RNI No.: MPHIN/2018/77137

ISSN 2582-483X

पाठशाला भीतर और बाहर

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-5 अंक-16 जून 2023
तिमाही, भोपाल



पाठशाला
भीतर और बाहर

जून. 2023 (वर्ष 5, अंक 16)

प्रकाशक

Azim Premji University

- **अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय**
सर्वे नम्बर 66, बुरुगुंटे विलेज, बिक्कनाहल्ली मेन रोड,
सरजापुरा, बेंगलूरु 562125 कर्नाटक
Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in

सम्पादकीय कार्यालय

- **सम्पादक**
पाठशाला भीतर और बाहर
अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन
प्लाट नं. 163-164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव
सोसायटी, ई-8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा,
भोपाल, म.प्र. 462039 फोन-0755-4074060
pathshala@apu.edu.in
gurbachan.singh@azimpremjifoundation.org
मो. 8226005057

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

पत्रिका में छपे लेखों में व्यक्त विचार और मत लेखकों के अपने हैं।
अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन या अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

सम्पादकीय

हर साल बारिश का मौसम *पाठशाला भीतर और बाहर* के पहले अंक की याद दिलाता है। इस अंक के साथ इस पत्रिका के प्रकाशन को 5 वर्ष हो गए हैं। शुरुआती वर्ष में पत्रिका का जो स्वरूप था, उसमें कुछ बदलाव भी हुआ है। अब इस पत्रिका में स्कूल और कक्षा में होने वाली प्रक्रियाओं, शिक्षक कार्यशालाओं, और समुदाय में अभिभावकों व बच्चों के साथ हो रहे ठोस काम के लिए ज़्यादा जगह बनाई गई है। इससे शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षक और ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे कार्यकर्ताओं के ठोस अनुभव व इन अनुभवों के विश्लेषण से निकली समझ व्यापक हुई है और विमर्श का एक मंच बनने की शुरुआत हुई। पत्रिका में छपने वाले लेख, पाठकों व लेखकों को भी अपने कार्य के बारे में मनन करने के अवसर उपलब्ध करवाते हैं व सभी को अपने काम के सन्दर्भ में दिशा भी देते हैं।

पाठशाला भीतर और बाहर के इस अंक में 17 लेख शामिल हैं। इनमें कुछ लेख भारत के संविधान में वर्णित मूल्यों को समझने और इस समझ को बच्चों में कैसे विकसित किया जा सकता है, यह समझने में मददगार होंगे।

परिप्रेक्ष्य स्तम्भ के दोनों लेख इसी विचार से जुड़े हैं। लेखिका, सीमा देशमुख ने स्कूलों में बच्चों के साथ 'अपशब्दों' के प्रयोग से होती हिंसा पर काम किया। लेख दर्शाता है कि बच्चे अपने परिवेश, जिनमें उनके अभिभावक, दोस्त, रिश्तेदार सभी शामिल हैं, से गालियाँ सीखते हैं। वे जानते हैं कि गालियों का प्रयोग अनुचित है। किसी का गाली देना उन्हें भी अच्छा नहीं लगता, गालियाँ उनमें असुरक्षा का एहसास लाती हैं, लेकिन तब भी वे ग़ुस्से में गालियों का प्रयोग कर बैठते हैं। लेखिका स्कूल में इस विषय पर बच्चों के साथ बेहिचक चर्चा करती हैं। बच्चे उनके साथ गाली-गलौज से होने वाली वेदना, उससे उपजे अहसासों के बारे में भी बात करते हैं और संकल्प लेते हैं कि गालियों से वे ख़ुद निजात पाएँगे और जो लोग गालियाँ देते हैं, उन्हें भी इनका प्रयोग नहीं करने के लिए कहेंगे।

अंजना त्रिवेदी का लेख बाल साहित्य और मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित है। वे कहती हैं कि बच्चों का साहित्य से सम्बन्ध विकसित करने से उनकी अभिव्यक्ति क्षमता बेहतर होती है। विभिन्न किताबों के ज़रिए बच्चे संवैधानिक, सामाजिक और मानवीय मूल्यों के बारे में भी सोचना और सवाल करना शुरू करते हैं। वे जीवन के विविध पहलुओं से रूबरू भी होते हैं, जिससे पाठ्यपुस्तकें और सीखने की प्रक्रिया रोचक होने लगती है। लेख में ऐसी कई किताबों का ज़िक्र है, जिनका उपयोग बच्चों के साथ किया जा सकता है।

शिक्षणशास्त्र स्तम्भ में पहला लेख अमित कोहली और लता बतकू का है। कक्षा 3 की पर्यावरण अध्ययन की पाठ्यपुस्तक के पाठ 'भोजन की ज़रूरत' पर कक्षा 1 बच्चों के साथ काम करने पर यह समझ बनी कि बच्चे अपने भोजन के बारे में बहुत कुछ जानते थे। कक्षा में हुई चर्चा के बाद शिक्षकों को लगा कि भोजन के बारे में चर्चा सभी कक्षाओं के लिए उपयोगी होगी। लेकिन कक्षाओं में महज़ चर्चा करने के बजाय उन्होंने एक ऐसा आयोजन किया जिसमें शिक्षकों, बच्चों और उनके अभिभावकों, सभी को मज़ा भी आया और सीखने को भी मिला। बच्चों ने सीखा कि अलग-अलग समुदायों का खाना-पीना और संस्कृति भी अलग-अलग होती है। उन्होंने इस प्रक्रिया में योजना बनाने, ज़िम्मेदारी लेने, समस्याओं के हल खोजने आदि के साथ कला, भाषा, गणित और पर्यावरण के बारे में भी बहुत कुछ सीखा।

महेश झरबड़े का लेख कक्षा की लेखन प्रक्रियाओं पर है। वे कहते हैं कि लेखन गतिविधियाँ आमतौर पर यांत्रिक और बनावटी होती हैं। बोर्ड या पाठ्यपुस्तक में लिखी हुई सामग्री को उतारने, सुन्दर अक्षर लिखने का काम तो बच्चे कर लेते हैं, लेकिन वे अपनी ही लिखी गई इस सुन्दर

लिखावट को पढ़ नहीं पाते। वे कहते हैं कि लिखे हुए को उतारने से बच्चे आँख और हाथ का नियंत्रण तो सीखते हैं, लेकिन समझ के साथ और स्वतंत्र लिखना नहीं सीख पाते। इसलिए लिखने के अर्थपूर्ण अभ्यास ज़रूरी हैं।

कमलेश चंद्र जोशी का लेख शिक्षकों के सीखने के सन्दर्भ में है। वे कहते हैं कि शिक्षकों द्वारा कक्षा, स्कूल में हुए अपने अनुभवों को लिखना, उन अनुभवों पर अपने साथी शिक्षकों से चर्चा करना, उनके सवाल और विचार सुनना अपने काम पर मनन करने और उसे बेहतर करने में सहायक होता है। वे शिक्षकों के एक समूह के साथ लगातार काम कर रहे हैं और उनका यह अवलोकन रहा है कि अपने काम के दस्तावेज़ीकरण से शिक्षकों को, कक्षा प्रक्रियाओं और बच्चों के सीखने के बारे में विश्लेषणात्मक तरीक़े से सोच पाने में मदद मिल रही है।

मुकेश मालवीय ने मातृभाषा और स्कूल में पढ़ने-लिखने की भाषा के द्वन्द्व पर चर्चा की है। बच्चे अपनी मातृभाषा लेकर स्कूल आते हैं और पढ़ने-लिखने, विचार करने व सीखने में इस भाषा का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। लेखक का मानना है कि मातृभाषा में और मातृभाषा की मदद से सीखना, सीखने को अर्थपूर्ण बनाता है। मातृभाषा को आधार बनाकर की गई गतिविधियाँ न सिर्फ़ स्कूल की भाषा सीखने में मददगार होती हैं, बल्कि यह भाषाओं की विभिन्नताओं को समझते हुए अन्य भाषाओं के प्रति बच्चों को संवेदनशील भी बनाती हैं। इनसे बच्चों की मातृभाषा में अर्जित विभिन्न क्षमताओं का इस्तेमाल भी सम्भव हो पाता है।

विमर्श स्तम्भ के पहले लेख 'बच्चों के पढ़ने-लिखने के विकास में पारिवारिक माहौल की भूमिका' के लेखक गजेन्द्र राउत हैं। इस लेख में वे बच्चों के सीखने में अभिभावकों की भूमिका के बारे में बात करते हैं। वे बताते हैं कि बच्चों के साथ सहज बातचीत करना, उनके साथ पढ़ना, उनकी ग़लतियों को समझते हुए सीखने में उनकी मदद करना, किताबों के साथ उनके रिश्ते विकसित करना, आदि तरीक़ों से घर के भीतर भी लिखना-पढ़ना सीखने में बच्चे की मदद होती है। उन्होंने उन ढेर सारी किताबों का भी ज़िक्र किया है, जिनकी मदद उन्हें मिली।

अगले लेख में अरविन्द सरदाना ने सामाजिक अध्ययन की कक्षाओं के अवलोकन प्रस्तुत किए हैं। उनके ये अवलोकन अलग-अलग शिक्षकों के शिक्षण के तरीक़ों, शिक्षण में आने वाली चुनौतियों, शिक्षकों से बातचीत और स्कूल की बेहतरी के लिए शिक्षकों द्वारा किए प्रयासों को प्रस्तुत करते हैं। शिक्षकों से बराबरी के मुद्दे पर हुई बातचीत में उन्होंने पाया कि इस तरह की अवधारणाओं के बारे में लोगों की मान्यताएँ जल्दी नहीं बदलतीं। कई बार विस्तृत विवरण, सटीक तर्क के बावजूद लोग नए विचारों को आत्मसात नहीं कर पाते, क्योंकि ये विचार उनके अनुभव से जुदा होते हैं। लेखक बताते हैं कि संवाद के खुलेपन और शिक्षकों के विविध सार्थक अनुभवों के सहारे ही हम मान्यताओं में बदलाव का लक्ष्य हासिल कर सकते हैं।

कक्षा अनुभव स्तम्भ का पहला लेख सुनीता शर्मा का है, जो बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान के साथ सामाजिक विज्ञान शिक्षण के रिश्ते के बारे में है। वे सामाजिक विज्ञान के पाठ पढ़ाते हुए सीखने में पीछे छूट गए बच्चों को कहानी और कविता के ज़रिए लिखना-पढ़ना सीखने की दक्षता की तरफ़ सफलतापूर्वक बढ़ा देती हैं। लेखिका बताती हैं कि सामाजिक विज्ञान को परिवेश व साहित्य के अनुभवों से जोड़ने पर न सिर्फ़ इस विषय की समझ पुख़्ता होती है, बल्कि सीखने में पीछे छूट गए बच्चों को भी कक्षा स्तर पर लाने में मदद होती है।

अगला लेख अभिषेक कुमार द्विवेदी का है। यह लेख एक ऐसे बच्चे के बारे में है, जिसके प्रति न सिर्फ़ शिक्षक और उसके सहपाठी यह पूर्वधारणा बना लेते हैं कि इसे समझ नहीं आता, और

धीरे-धीरे वह बच्चा ख़ुद भी यही मानने लगता है। नतीजतन सीखने का कोई भी प्रयास करने से पहले वह यह निर्णय लेने लगता है कि "मैं नहीं कर पाऊँगा"। कक्षा में किए गए अपने काम के आधार पर अभिषेक बताते हैं कि ऐसे बच्चों के साथ शिक्षक धीरज से काम करें तो यह धारणा तोड़ी जा सकती है और बच्चे को सीखने के कक्षा स्तर तक लाया जा सकता है।

श्याम सुंदर ने अपने स्कूल में पढ़ने के लिए स्कूल की समय सारिणी में अलग से जगह बनाने और इस ख़ास वक़्त के होने से बच्चों के पढ़ने की क्षमताओं में हुई बेहतरी के बारे में बताया है। वे कहते हैं कि इसमें कुछ समय तो लगा, लेकिन 2-3 वर्षों के भीतर उनके स्कूल के सभी बच्चे पढ़ना सीख गए।

प्रतिभा शर्मा का लेख कविताओं और भाषा शिक्षण के रिश्ते पर केन्द्रित है। बच्चों को कविताएँ पसन्द होती हैं, पर उन्हें मज़ेदारी से कैसे प्रस्तुत किया जाए और इस मज़ेदारी को भाषा शिक्षण के उद्देश्यों की तरफ़ कैसे बढ़ाया जाए, इस सम्बन्धी कक्षा अनुभव इस लेख में आपको मिलेंगे।

पुस्तक चर्चा में इस बार दो किताबें हैं। पहली किताब हदिस लज़र ग़ोलामी की लिखी हुई है जिसपर चर्चा कर रहे हैं प्रभात। साथ ही इस किताब की हिन्दी अनुवादक दीपाली शुक्ला ने भी किताब का अनुवाद करते वक़्त आई चुनौतियों व सीखों के बारे में बताया है। 'मृत्यु' जैसे विषय को बच्चों के बीच कैसे ले जाया जाए, *किमिया* के बहाने इस बात पर भी चर्चा हुई है। दूसरी किताब है प्रभात की लिखी हुई *लाइटनिंग।* इसपर चर्चा कर रहे हैं कमलेश चंद्र जोशी। इस चर्चा में 'लाइटनिंग' नाम की बाघिन के सहारे पर्यावरण सन्तुलन जैसे विषय पर भी बात की गई है।

साक्षात्कार में दीपक राय ने शिक्षिका सुमन विष्ट से बात की है। वे कहती हैं कि विचारने वाले नागरिक बनाने में शिक्षा की भूमिका अहम है, और इसलिए शिक्षकों की ज़िम्मेदारी और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

पाठशाला के लिए आयोजित इस बार के संवाद का विषय था 'समतामूलक और समावेशी शिक्षा'। आज़ादी के बाद से ही शिक्षा में समानता और समता की बात होती रही है। भारतीय संविधान में इन मूल्यों की बात है और शिक्षा पर बने सभी दस्तावेजों में इन मूल्यों की ज़रूरत और अहमियत को भी रेखांकित किया गया है। इस सबके बावजूद, सभी को बराबरी की शिक्षा उपलब्ध करवाने में हम बहुत सफल नहीं रहे हैं। यह संवाद इस दिशा में आने वाली विभिन्न चुनौतियों को सामने रखते हुए रेखांकित करता है कि इस दिशा में सबसे बड़ी चुनौती व्यक्तियों का नज़रिया है। जब अभिभावकों, शिक्षकों, संस्थानों का नज़रिया एक होगा, तब ही मूल्यों को हासिल करने में हम कुछ तेज़ी ला सकते हैं।

पाठक चश्मा में पाठकों की प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

हर बार की तरह, इस बार भी आपसे यही गुज़ारिश है कि आप लेखों को पढ़ें, अपने साथियों से इन्हें साझा करें, और उनपर प्रतिक्रियाएँ लिखकर हमें भेजें। प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत हों यह ज़रूरी नहीं है, आप दो-तीन के समूह में पढ़-लिखकर भी अपनी प्रतिक्रियाएँ हमें भेज सकते हैं। *पाठशाला भीतर और बाहर* के अब तक प्रकाशित अंक और लेख 'अनुवाद सम्पदा' पर ऑनलाइन उपलब्ध हैं। आप इन्हें वहाँ भी पढ़ सकते हैं।

आपकी टिप्पणियों और लेखों का हमें हमेशा इन्तज़ार रहता है।

सम्पादक मण्डल

स्कूल और समुदाय में गालियों का इस्तेमाल और हिंसा की शुरुआत

सीमा देशमुख

हम सभी जानते और मानते हैं कि गालियों का प्रयोग नहीं होना चाहिए, लेकिन तब भी न तो हम ख़ुद को रोक पाते हैं और न ही गाली का प्रयोग करने वाले को। सबकुछ देखते हुए भी यह कहने की हिम्मत नहीं कर पाते कि यह ग़लत है, और यह भी एक तरह की हिंसा है। लेख मध्य प्रदेश के कुछ विद्यालयों के बच्चों और किशोरों के साथ गालियों के बारे में की गई बातचीत का विवरण प्रस्तुत करते हुए दर्शाता है कि बच्चों के साथ ऐसे मुद्दों पर बातचीत करना सम्भव है, और यह बातचीत होनी भी चाहिए। लेख बातचीत के बाद बच्चों द्वारा अपने स्कूल / घर में गालियों के प्रयोग को रोकने के लिए किए गए प्रयासों को भी प्रस्तुत करता है। -सं.

समुदाय के अन्दर, समुदाय के बाहर, स्कूल हो या बाज़ार, घर हो या आम रास्ता, लड़ाई-झगड़ों में ही नहीं, बल्कि दोस्तियों में भी गालियों का प्रयोग अकसर सुनाई पड़ता है। गालियाँ हमारी सामान्य बोलचाल में इस कदर शामिल हो गई हैं कि इन्हें कहने और सुनने में अकसर हममें से अधिकांश को हैरानी या ख़राबी महसूस नहीं होती। यदि कोई सवाल उठाए तो जवाब आते हैं कि 'इक्का-दुक्का ही देता हूँ', 'मैंने तो प्यार से बोला' या 'ये इतनी बड़ी बात तो नहीं है'। असल में, हमें गालियों पर अटपटाहट ही नहीं होती या यह कह सकते हैं कि सुनते-बोलते हममें से अधिकांश इसके आदी हो गए हैं।

शिक्षक भी अकसर इस समस्या से जूझते हैं। गालियों को लेकर दण्ड के सिवाय हम शिक्षकों के पास कोई त्वरित उपाय नहीं दिखता। एक तो, यह विचार ही नहीं किया जाता कि इनपर बातचीत हो सकती है। दूसरा, यदि कोई यह सोचता भी है तो इनपर चर्चा करना और समझ बनाना लम्बा और मुश्किल काम जान पड़ता है, लेकिन यह बेहद ज़रूरी भी है। इसलिए हमने तय किया कि इस मुद्दे को बच्चों और युवाओं के बीच ले जाकर समझा जाए कि वे इसे किस तरह से देखते हैं, क्या ये व्यवहार उन्हें भी परेशान करता है, क्या इसको बदलने की ज़रूरत लगती है, और यदि उन्हें बदलने की ज़रूरत लगती है, तो वे बदलाव में सहभागी कैसे हो सकते हैं?

हम बाल संरक्षण से जुड़े कई मुद्दों, जैसे बच्चों के साथ होने वाली शारीरिक व मानसिक हिंसा, यौनिक हिंसा, नशे से रोकथाम, बच्चों की भागीदारी, मानसिक स्वास्थ्य, बच्चों से जुड़े क़ानून आदि पर जागरूकता सत्र नियमित रूप से करते रहे हैं। और ऐसे सत्र बाल समूह, युवाओं व शैक्षणिक संस्थानों के विद्यार्थियों के साथ पिछले 6-7 वर्षों से कर ही रहे थे। इसलिए गाली-गलौज को बन्द करने पर सचेतता के साथ-साथ जागरूकता और सकारात्मक बदलाव के उद्देश्य से हमने हाईस्कूल के किशोरों, समुदाय के बाल समूह और अग्रिम पंक्ति के कार्यकर्ताओं से बातचीत की। हमने 4 स्कूलों और 10 बाल समूहों के साथ 'हिंसा और गाली-गलौज' पर केन्द्रित बैठकें और कार्यशालाएँ आयोजित कीं,

और लगभग 500 किशोरों तक हम इस मुद्दे को ले जा पाए। हर समूह में 30 से 40 सदस्य शामिल थे। 3 स्कूलों में लड़के और लड़कियों का मिला-जुला समूह था। एक स्कूल में केवल लड़कियों का समूह था जिसमें सभी लड़कियाँ मुस्लिम समुदाय से थीं। प्रत्येक समूह के साथ 3-4 सत्र इसी विषय पर केन्द्रित थे।

स्कूलों में बच्चों के साथ बातचीत

विद्यालय 1

हमने प्रश्न के रूप में सबके सामने यह बात विचार के लिए रखी कि ऐसी कौन-सी



चित्र : हीरा धुर्वे

बातें हैं जिनसे उनको सुरक्षा महसूस होती है। थोड़ा सोचते हुए एक-दो विद्यार्थियों की ओर से जवाब आया कि यहाँ टीचर अच्छे हैं, पढ़ाई बहुत अच्छी होती है, कोई बात हो तो अच्छे-से समझाते हैं, अच्छे-से बात करते हैं और मारते नहीं हैं। बच्चों ने अच्छे-से बात करने और मार-पिटाई न होने को सुरक्षित माहौल जाँचने का महत्त्वपूर्ण इंडिकेटर समझा। हमको यह भी समझना था कि क्या सभी बच्चे ऐसा ही महसूस करते हैं और इसलिए हमने वापस पूछा, "क्या यहाँ बैठे सभी बच्चों को ऐसा ही लगता है?" सभी ने 'हाँ' में ही जवाब दिया।

बच्चों ने कहा कि उनको घर और स्कूल, दोनों जगह सुरक्षित लगता है पर रोड और बाज़ार बच्चों के लिए सुरक्षित नहीं हैं। बच्चों के साथ अलग-अलग तरह की हिंसा होती है जिसमें मार-पिटाई, गाली-गलौज और छेड़ख़ानी शामिल हैं।

इसी बात को पकड़ते हुए चर्चा आगे बढ़ी और उनसे पूछा गया, "आपके हिसाब से हिंसा में कौन-कौन-सी बातें या व्यवहार सामने आते हैं?" एक लड़की की ओर से तुरन्त जवाब आया, "गुण्डागर्दी करना, किसी बात के लिए दबाव बनाना, गाली-गलौज, छेड़छाड़ करना और मार-पिटाई, यह सब हिंसा है।" अब अगला प्रश्न सबके लिए था, "एक मिनट के लिए आँखें बन्द करके सोचो कि हमारे आसपास अपने घर, स्कूल, खेल के मैदान और बाज़ार में इनमें से किस तरह की हिंसा का व्यवहार हम सबसे ज़्यादा देखते हैं?" सबका जवाब इस बार एक ही था, 'गाली-गलौज'। एक लड़के ने कहा, "...पर हमारे स्कूल में कोई गाली नहीं देता क्योंकि हमारे गुरुजी ने गाली देने को मना किया है। हमारे स्कूल में गाली देने पर सज़ा होती है।" फिर सवाल आया, "स्कूल के बाहर या जब गुरुजी आसपास न हों, तब क्या गाली देकर बात होती है?" सबके चेहरों पर शरारत वाली हँसी थी। सामने बैठे एक बच्चे ने आँखें झपकाकर हँसते हुए कहा, "तब तो बहुत चलती है।" और तुरन्त पीछे मुड़कर एक बच्चे की ओर इशारा करते हुए बोला, "सबसे ज़्यादा गालियाँ देने वाला वो बैठा है।" फिर क्या था! सब एक दूसरे को जैसे उजागर कर रहे थे... "मैं नहीं,

वो देता है, मैं तो कभी-कभी देता हूँ, वो तो हर बात में।''... कोई बोला, ''मैं स्कूल में कभी गाली नहीं देता... वो तो बहुत गन्दी गालियाँ देता है।'' एक लड़का ज़ोर से बोला, ''मैडम, ये लड़कियाँ भी बहुत गालियाँ देती हैं, केवल लड़के ही नहीं देते।'' कुछ लड़कियाँ, जो चुपचाप इस बातचीत को सुन रही थीं, बोलीं, ''मैडम, झूठ बोल रहे हैं ये लोग। हम लोग कोई गाली नहीं देते। लड़के तो छोटी-छोटी लड़ाई में भी इतनी गन्दी-गन्दी गालियाँ देते हैं कि सुनने में भी बहुत बुरा लगता है। लड़कियाँ तो केवल 'कुत्ता', 'कमीना' बस इतना ही बोल देती हैं, और वह भी कभी-कभी।'' सब लड़के और लड़कियाँ ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। कुछ लड़कों ने ज़ोर देकर कहा, ''सही तो है, वे लड़कियों वाली गाली ही देती हैं, लड़कों वाली नहीं।'' 'लड़कों वाली गाली' सुनते ही हमारे कान एकदम खड़े हो गए, ''क्या-क्या! लड़कियों और लड़कों वाली गाली! ये अलग-अलग होती हैं क्या?'' एक विद्यार्थी ने बताया, ''हाँ मैम! 'लड़कियों वाली गाली' मतलब ऐसी ही हल्की-फुल्की और जो गाली लड़के देते हैं वो बहुत गन्दी होती हैं।'' ''मतलब?'', मैंने पूछा तो उसने बताया, ''अरे मैम! गन्दी यानी माँ-बहन की। आप नहीं समझोगी... बहुत गन्दी होती हैं।'' फिर पूछा, ''आप लोगों ने कितनी गालियाँ सुनी और बोली हैं?'' तब बच्चों ने धीरे-धीरे 15-20 तरह की गालियाँ बताईं, जो वे अकसर सुनते या बोलते हैं। अब बात इस तरफ़ मुड़ गई कि ये सारी गालियाँ कैसे बनीं और क्यों बोली जाती हैं। उनसे पूछा गया, ''क्या आपने सोचने की कोशिश की कि इनका क्या अर्थ है?'' बातचीत से यह समझ आया कि बहुत-सी गालियाँ, जो हम एक दूसरे के साथ लड़ाई में इस्तेमाल करते हैं, वे सभी महिलाओं के शरीर पर हैं। गुरुजी के आदेश का पालन ज़रूर आधे से ज़्यादा बच्चे स्कूल में करते होंगे, पर वह भी शायद सज़ा के डर से। स्कूल से बाहर निकलते ही माहौल के मुताबिक़ वे गाली देने लगते हैं। इसलिए गाली क्यों नहीं देना है, इसपर सकारात्मक चर्चा की ज़रूरत है।

चर्चा आगे बढ़ी तो यह बात आई कि गाली सुनना किसी को अच्छा नहीं लगता, परन्तु देते समय हम यह क्यों नहीं सोचते? एक बच्चे ने कहा, ''मैम, ग़ुस्से में निकल जाती है पर सच में सुनना तो अच्छा नहीं लगता! कोई माँ-बहन की गाली देता है तो ख़ून खौल जाता है। इतना ग़ुस्सा आता है कि सामने वाले को फोड़ डालो। कई बार इन गालियों के कारण लड़ाई बहुत बढ़ भी जाती है।'' सभी बच्चे बातचीत में बहुत ही गम्भीरता से शामिल हो रहे थे और कुछ-कुछ ख़ुद सोच और बोल रहे थे। घर में माता-पिता के झगड़े में पिता, माँ को किस तरह की गाली देते हैं, पड़ोस में छोटे बच्चे खेल-खेल में 'तेरी माँ की' जैसी गालियाँ देते हैं, या खेल के मैदान में दोस्तों के साथ मस्ती में ही सही, कैसी गालियाँ देते हैं, यह सब वे याद कर पा रहे थे।



चित्र : हीरा धुर्वे

आदत में बदलाव के सकारात्मक तरीक़े

अब बात इस दिशा में बढ़ी कि स्कूल में इस आदत को कैसे बदलें? बदलाव के लिए कहाँ से शुरुआत करें? क्लास के हेड बॉय ने कहा, “जिसको गाली देते सुनें, उसपर फ़ाइन लगे, तभी रुकेगी।” किसी ने सलाह दी, “जब कोई सामने गाली दे तो क्यों न उसको तुरन्त मना करें!” एक ने कहा, “हम लोग ख़ुद से शुरुआत करें, सब अपनी-अपनी आदत भी बदलें, तभी ठीक होगा।” बात तो सही लगी कि जो लोग इस बात को समझे हैं, कम-से-कम वे ख़ुद से अपनी आदत को बदलें और सामने यदि कोई गालियों का उपयोग करे तो उससे केवल यह बोलें, “गाली देकर बात नहीं करें। यदि वह नहीं माने तो दोबारा कहें। यदि फिर भी न माने तो उसके सामने से चले जाएँ। अगर कोई एक बार में न माने तो हर बार गाली कहने पर मना करें”। सभी को यह बात ठीक लगी। लेकिन केवल स्कूल में ही नहीं, बाहर भी यह तरीक़ा इस्तेमाल करने का विचार सबको बेहतर लगा। स्कूल में पोस्टर के माध्यम से यह सूचना सबको देने की बात हुई। सबने यह तय किया कि अगले दो हफ़्तों तक इसी बात को ध्यान में रखते हुए ‘रोको-टोको’ की रणनीति पर काम करेंगे, दो हफ़्ते बाद फिर अपने अनुभवों के साथ मिलने पर सहमति बनी।



चित्र : हीरा धुर्वे

अन्य स्कूलों में भी इसी प्रक्रिया से सत्र चलाए गए और सकारात्मक बदलाव के लिए बच्चों के साथ कुछ ऐसी टास्क-आधारित गतिविधियाँ सोची गईं जो अपने-अपने स्तर पर स्कूल और समुदायों में करनी थीं। इन सत्रों के दौरान हमें यह समझ आया कि बच्चों की बातचीत में गाली की आदत अपने घर और आसपास के माहौल से पनपी है। सत्रों के दौरान बच्चों ने यह बात भी साझा की कि घर में माता-पिता के झगड़े होते हैं तो पिता, माँ को उसकी ‘माँ की गाली’ देकर मारता है।

विद्यालय 2

इस स्कूल में गाली-गलौज और हिंसा पर बातचीत के दौरान लड़कियों ने बताया, “रोड पर बहुत डर लगता है, गाली तो हर क़दम पर सुनने को मिलती है। बुरा लगता है, पर तब नज़रअन्दाज़ करके आगे बढ़ जाते हैं। कभी रोकने का सोचा नहीं। सड़क और बाज़ार में ये छेड़ख़ानी वाला व्यवहार और गाली-गलौज तो आम बात है। अभी इसपर बात करते हुए हम उन शब्दों पर सोच भी रहे हैं। इसके पहले भी हमने कई बार ये शब्द गालियों में सुने। घर में भी इस तरह की बहुत गालियाँ देते हैं, पर किसी ने यह नहीं कहा कि गाली मत बोलो, किसी ने इसके लिए नहीं टोका। स्कूल में टीचर के सामने तो गाली नहीं बोलते, पर जब लड़ाई हो जाती है तो यह निकल ही जाती है क्योंकि

इसकी आदत ज़्यादा है।" कुछ बच्चियों ने कहा, "इसका विरोध करना ज़रूरी है, चाहे घर हो या स्कूल। जो भी लोग गाली देते दिखें बस उनको रोको! यही एक तरीक़ा है जिससे शायद गालियाँ कम हों।" पीछे बैठी एक लड़की ने इसमें जोड़ा, "यदि नहीं माना तो भी क्या, पर उनको ये तो पता चलेगा कि हमको यह तरीक़ा या ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। कम-से-कम जब वह हमको देखेगा तो उसको हमारा टोकना याद आएगा।"

विद्यालय 3

इस स्कूल में ज़्यादातर मुस्लिम समुदाय की लड़कियाँ पढ़ाई करती हैं। यहाँ भी हिंसा और गाली-गलौज पर हुई चर्चा में उन्होंने बताया कि बात-बात पर गाली देना आदत का मसला है। घर या आसपास के इलाक़े में गालियों का इस्तेमाल नहीं होता, पर जब हम लोकल बस या टेम्पो में सफ़र करते हैं तो वही लोग छोटी-छोटी बात की शुरुआत भी गालियों से करते हैं। जैसे– 'अबे साले, पीछे हो', 'पीछे खसक बहन...', आदि। वे किसी को नहीं छोड़ते, छोटे-छोटे बच्चों के साथ भी गाली-गलौज के साथ बात करते हैं जबकि उनकी उनसे कोई लड़ाई नहीं होती है। यूँ ही सीधी-सी बात कहने में भी गाली का इस्तेमाल करते हैं। बस स्टैंड, लोकल बस, होटल, ढाबे या पान की गुमटी पर ऐसी बातें सुनने में आती हैं। बहुत बार हमारी काम की जगह भी हमारे शब्दों और बोलचाल के तरीक़े पर बहुत असर डालती है।

विद्यालय 4

इस स्कूल में तीन कक्षाओं के बच्चे मिले-जुले 2 समूहों में थे और इनके साथ बातचीत के 6 सत्र हुए। जब गाली-गलौज पर सत्र चला तो पूरी कक्षा में फुसफुसाहट और हँसी थी। सबके मन में यह सवाल चल रहा था कि इसपर क्या बात करेंगे और क्यों? कक्षा के सभी बच्चों से मेरी एक पहचान और आत्मीयता थी। मेरा पहला सवाल था, "हम सबने कितनी प्रकार की गालियाँ सुनी हैं और क्या किसी के साथ दोस्ती या प्यार में गाली देकर बात करते हैं?" मुझे दोनों प्रश्नों के जवाब में चुप्पी मिली। थोड़ा इन्तज़ार करने के बाद एक बच्चा खड़ा हुआ और बोला, "मैडम, गाली तो बहुत सारी सुनी हैं पर जब लड़ाई होती है तो शुरुआत में हल्की-फुल्की गाली और यदि बात बढ़ जाए तो माँ और बहन से कम तो कुछ नहीं होता!" "कैसा लगता है गाली देकर?", मैंने पूछा, तो जवाब था, "कैसा-क्या लगेगा, रोज़ ही सुनते हैं या सुनाते हैं।"



चित्र : हीरा धुर्वे

"घर में गाली का इस्तेमाल होता है?", का तुरन्त जवाब आया, "हाँ मैडम!" कुछ बच्चे बोले, "हमारे घर में गाली नहीं देते, पर बाहर तो रोज़ सुनते हैं। हमारी बस्ती में 4 साल का बच्चा भी जब ग़ुस्सा होता है तो गाली देता है। बच्चे को भी मालूम है कि गाली कब देनी है, भले ही वह उसके बारे में कुछ नहीं जानता।" 11वीं की एक लड़की बोली, "जब लोग शराब पीते हैं तो ज़्यादा गाली देते हैं, वैसे नहीं देते।"

तुरन्त 2-3 बच्चों ने इसपर कहा, "अभी यहीं कितने लोग हैं जो बहुत गालियाँ देते हैं। मैडम, पीने-वीने से कुछ नहीं होता! बचपने से सुनते-सुनते अपनी भी आदत पड़ जाती है, शराब का इससे कोई लेना-देना नहीं है। एक बात और है कि लड़कियों के साथ झगड़ा होता है तो गाली नहीं देते, पर लड़कों के बीच लड़ाई हो तो गाली चलती है।" "कैसी गाली चलती है?", का जवाब था, "बहुत गन्दी-गन्दी, माँ-बहन की।"

अनुभव साझा करते हुए एक बच्चे ने बताया कि जब उसने एक बच्चे को टोका तो जवाब आया, "अबे! बड़ा दूध का धुला है, मुझे मत सिखा। पहले ख़ुद सीख जा, फिर बात करना।" तो उसने अपने दोस्त को जो जवाब दिया वह मज़ेदार और सीखने वाला था। उसने कहा, "देख भाई! कोई दूध का धुला नहीं है और यदि बनना चाहे तो तू मेरी मदद कर, मैं तेरी...। इसमें बुरा क्या है, अगर कोई कुछ अच्छा करना चाहे तो!" तब दोस्त ने कहा, "ऐसा बोल न कि तू मेरी मदद कर रहा है ताकि तू गाली देना छोड़ दे।" बच्चों ने साझा किया कि सच में जब से गाली को बातचीत के ग़लत तरीक़े के रूप में समझे हैं, तब से जब गाली सुनते हैं, तब कुछ ख़राब लगता है।

बदलाव के लिए किए गए प्रयास

इन सभी कार्यशालाओं में गाली-गलौज को समझने की कोशिश तो की गई परन्तु इसके हिंसात्मक रूप को पहचानने और इसकी मुख़ालफ़त करने के लिए अपने स्तर पर सक्रिय होकर सचेतता के साथ इसका विरोध करने की तैयारी भी हुई। इसपर सभी के बीच राय तो पहले ही बन चुकी थी, मसलन :

- **ख़ुद के व्यवहार पर सचेतता** : हम ख़ुद गाली सूचक शब्दों का उपयोग नहीं करेंगे।
- **सकारात्मक माहौल बनाना** : जो गाली का उपयोग करेगा, उसको टोकेंगे, और बार-बार टोकेंगे।

कुछ काम ख़ुद के लिए तय किए, जिनमें स्कूल और बस्ती में चार्ट शीट पर सन्देश लिखने और हमारे सामने जो भी गालियों का प्रयोग करें, उनको टोकने की हिम्मत जुटाने की बातें शामिल थीं। इस बात से फ़र्क़ नहीं पड़ना चाहिए कि सामने वाला हमारी बात मानेगा या नहीं। कहीं भी ग़लत दिखाई या सुनाई पड़ रहा है तो नियमित टोकते रहने की बात सोची गई।

असर जो देखने को मिले

1. बच्चों ने बताया कि उन्होंने मिलकर पोस्टर बनाए। इन पोस्टरों में गालियाँ न देने का सन्देश लिखकर उन्हें जगह-जगह चिपकाया गया। बच्चों ने बताया कि हम 4-5 लोगों ने इसकी ज़िम्मेदारी ली और 11वीं व 12वीं के बच्चों के साथ स्लोगन लिखे। स्लोगन लिखने में बाल कैबिनेट के प्रतिनिधियों और 2-3 शिक्षकों ने मदद की और सुझाव दिए कि इन्हें कहाँ चिपकाना बेहतर होगा। जब इन्हें चिपकाया गया तो छोटे बच्चे झुण्ड बनाकर देख रहे थे। कई दिनों तक पोस्टर अपनी जगह पर चिपके रहे और बच्चे उनको पढ़ते रहे। बाल कैबिनेट के सदस्यों की असेम्बली में बच्चों को गाली देकर बात न करने और इस तरह के व्यवहार को रोकने के लिए 'रोक-टोक अभियान' चलाने पर सभी ने सहमति दी।

2. कक्षा 11 के एक बच्चे ने साझा किया, "हम लोग शाम को ग्राउंड पर जाकर क्रिकेट खेलते हैं। मेरा एक दोस्त, जो पास के मोहल्ले में रहता है, वह भी मेरे साथ रोज़ खेलने आता है। उसको गाली देने की आदत है। जब वह कल खेलने आया तो रोज़ की तरह गाली देकर कह रहा था, 'अबे तेरी माँ का... बॉल तो छोड़ दी।' वह तीसरी बार गाली दे रहा था। मुझे बहुत ग़ुस्सा आ रहा था पर थोड़ी शान्ति के साथ मैंने उसे गाली देने के लिए मना किया, 'तुम गाली नहीं दोगे।' उसने कहा, 'मैं तो दूँगा, तुमको खेलना हो तो खेलो। तुमको तो नहीं दी।' उसके बाद हम खेलते रहे। उसके मुँह से वापस गाली निकली। तब मैंने खेल को बीच में



चित्र : हीरा धुर्वे

रोकते हुए अपने दोस्त को कहा, 'तुमको गाली देने को मना किया है, गाली क्यों दे रहे हो?' उसने कहा, 'मुझे नहीं खेलना।' बाक़ी दोस्त भी उसे बोल रहे थे, 'सही बात है तुम गाली क्यों दे रहे हो?' इसके बाद वह चला गया। दो दिन खेलने नहीं आया और न ही मिलने पर बात की। तीसरे दिन वह खेलने आया। हमने भी उसे कुछ नहीं कहा। खेलते-खेलते वापस बात शुरू हुई, पर उस दिन उसके मुँह से गाली सुनाई नहीं पड़ी। खेल के मैदान में हम कुछ दोस्त मिलकर इसपर बात कर रहे थे कि हमें गाली सुनना और देना, दोनों बन्द करना होगा। यह मेरा पहला अनुभव था जब मैंने गाली देने पर रोक-टोक की। लोग समझते हैं, एक बार न समझें तो हमें बार-बार बोलना होगा। ऐसा करने से ख़ुद को भी अच्छा लगेगा और माहौल बदलने में हम अपनी हिस्सेदारी भी निभा पाएँगे।"

3. 12वीं कक्षा की एक लड़की ने शेयर किया, "मुझे गाली सुनना पहले भी अच्छा नहीं लगता था, पर हमारे घर में पापा बहुत गाली देकर बात करते हैं। एक दिन मेरे घर मेरी दीदी और जीजाजी आए थे। पापा ने मुझको गाली देकर कुछ काम करने को बोला। मैंने काम तो किया पर बहुत बुरा भी लगा। मैंने माँ से कहा, 'ये गाली देकर बात करते हैं, मेहमानों के सामने भी ध्यान नहीं रखते। हमको भी बुरा लगता है।' माँ ने कहा, 'कुछ नहीं होता।' तब मैंने माँ से कहा, 'उनको बोल देना कि गाली न दें।' मैंने 8 दिन तक पापा से बात नहीं की। उन्होंने सबसे पूछा, 'इसको क्या हुआ है, बात क्यों नहीं कर रही?' तब माँ ने मेरे सामने उनको उस दिन की बात बताई और कहा, 'आपके गाली देने के नाते नाराज़ है।' मैं सामने ही खड़ी थी। पापा ने मेरी तरफ़ देखा और बोले, 'अब नहीं दूँगा।' तब मैंने उनसे कहा, 'मुझको ही नहीं, आप किसी को गाली नहीं देना, न घर में, न बाहर। गाली सुनना किसी को अच्छा नहीं लगता चाहे वो कोई भी हो। कोई अगर आपको गाली देकर बात करे तो आपको कैसा लगेगा? इतनी गन्दी गालियाँ कैसे मुँह से निकल जाती हैं, आप थोड़ा भी नहीं सोचते!' " उसने बताया कि वह पहला दिन था, जब उसने अपने पापा को गाली देने से रोका और पापा ने 'सॉरी' बोलते हुए कहा कि ग़लती हो गई है, अब नहीं दूँगा।

4. समुदाय के एक युवा ने शेयर किया, "पहले जब किसी के मुँह से गाली सुनते थे तो

इतना बुरा नहीं लगता था। अब कोई भी गाली देता है तो कान खड़े हो जाते हैं और दिमाग़ में यह आने लगता है कि कुछ ग़लत बोला गया। अब ये शब्द सामान्य नहीं लगते।"

5. जब ये चर्चाएँ चल रही थीं, उसी समय की बात है। कॉलोनी के पार्क में रविवार को तीन युवा, जिनकी उम्र अन्दाज़न 20-25 होगी, कुछ सामान के साथ एक बेंच पर बैठे थे। वे शायद मोबाइल पर कुछ देख रहे थे, और बहुत तेज़-तेज़ बातें कर रहे थे। उनके हर वाक्य में गाली थी। मुझे बहुत अजीब लग रहा था। एक-दो बार नज़रअन्दाज़ किया। सोचा, शायद रुक जाएँ पर गाली देकर बात करना बन्द ही नहीं हो रहा था। थोड़ी हिम्मत करके मैं उनके पास गई और पूछा, "भैया, आप लोग कहीं बाहर से आए हैं?" एक ने 'हाँ' बोला, और बताया कि आज उनकी एक परीक्षा है। यहाँ बुकिंग 8 बजे से है तो यहीं रुक गए। मैं सोच रही थी कि इन्हें कैसे बोलूँ। फिर मैंने कहा, "आप लोगों की बातें गाली से शुरू हो रही हैं, सुनने में अच्छा नहीं लग रहा था। सोचा कि नहीं बोलूँ, पर मन नहीं माना इसलिए आप लोगों से बात करने आ गई।" वे तीनों मुझे बहुत आश्चर्य से देख रहे थे। मैंने फिर कहा, "आप लोगों को बता दूँ कि इस पार्क में गाली देना मना है, और पार्क में क्या, हम लोग हर जगह इसे लागू करने के लिए बातचीत कर रहे हैं। आप लोग भी इस बात का ख़्याल रखो, गाली देकर बात मत करो, न घर में और न ही किसी सार्वजनिक जगह पर।" तब उनमें से एक ने कहा, "सॉरी! अब नहीं देंगे।" मैंने बातचीत आगे बढ़ाते हुए कहा, "आप लोग ही बताओ, जिन गालियों का आप लोग उपयोग कर रहे थे, क्या घर में, अपने परिवार वालों के सामने, इनका उपयोग कर सकते हो?" उन्होंने जवाब देते हुए बताया, "घर पर ऐसे नहीं बोलते आंटी!" आगे हमारी बात हुई कि जो शब्द हम अपने घर वालों या माँ-बहन के सामने उपयोग करने में सहज नहीं हैं, उन शब्दों को बाहर सबके सामने कैसे उपयोग कर लेते हैं? सभी ने आगे से इस बात का ध्यान रखने और गाली देकर बात न करने की बात कही। इससे मुझे समझ में आया कि किसी को रोकने के लिए भी ख़ुद को बहुत तैयार करना होता है, ख़ुद भी चुनौती लेनी होती है।

बच्चों के लिए हिंसा मुक्त माहौल की कल्पना को साकार रूप देने के लिए अलग-अलग प्रयास जारी हैं। गालियों को हिंसा की शुरुआत मान सकते हैं। इस तरह गाली-गलौज की रोक के लिए दो स्तरों पर प्रयास किए जा सकते हैं : एक, स्वयं के स्तर पर और दूसरा, अपने आसपास के माहौल के स्तर पर। हमें यह भी देखना होगा कि हम जिस माहौल में रह रहे हैं, वहाँ बातचीत में किन शब्दों का इस्तेमाल किया जाता है, किसके द्वारा किया जाता है और किस स्थिति में किया जाता है। ज़्यादातर लोगों ने यही कहा कि ये बहुत हद तक आदत की भी बात है। कई बार शब्दों के अर्थ नहीं मालूम, फिर भी हम गाली सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। व्यवहार में बदलाव की प्रक्रिया बहुत हद तक ख़ुद के साथ चलने वाली प्रकिया है, जिसमें व्यक्ति को अपने व्यवहार और तौर-तरीक़ों को सचेतता के साथ देखना होता है।

सीमा देशमुख 30 सालों से महिला अधिकार, पोषण, स्वास्थ्य एवं बाल सुरक्षा के मुद्दों के काम से जुड़ी हुई हैं। पिछले दो दशक से मुस्कान के शिक्षा और समुदाय कार्यक्रम के अन्तर्गत वे बाल संरक्षण और बाल अधिकारों पर केन्द्रित रूप से काम कर रही हैं।

सम्पर्क : seemadeshmukh24@gmail.com

बाल साहित्य में गुँथे मानवीय–सामाजिक मूल्य

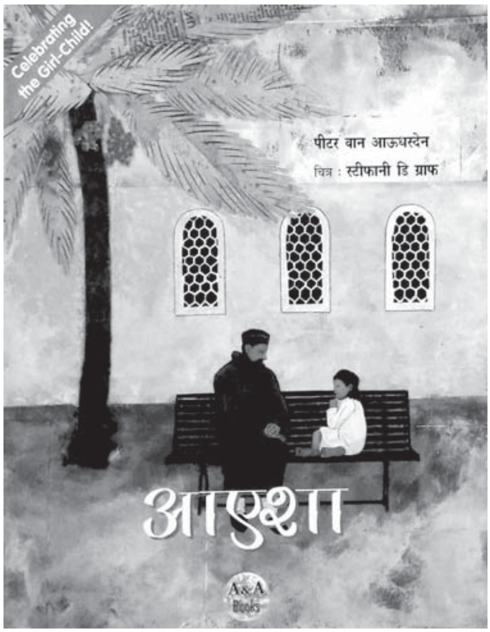
अंजना त्रिवेदी

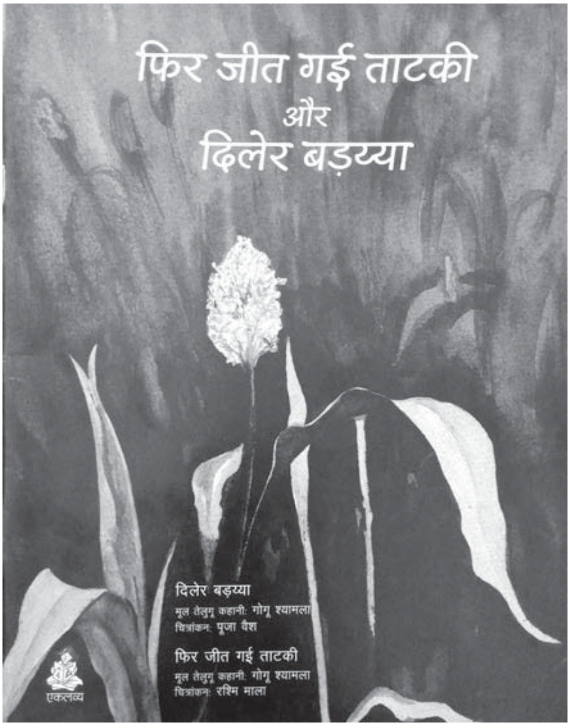
यह लेख बच्चों के जीवन में बाल साहित्य की अहमियत को दर्शाता है और बच्चों के बीच इसके अभाव की समस्या को भी रखता है। लेखिका बताती हैं कि पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु से संवैधानिक, मानवीय और सामाजिक मूल्यों के बारे में सोचने के मौक़े बहुत कम बन पाते हैं, जबकि संजीदगी से चुनी गईं बाल साहित्य की किताबों पर बच्चों से अर्थपूर्ण सवाल-जवाब करने से इन मूल्यों पर गहराई से सोचने-विचारने की सम्भावनाएँ ज़्यादा बनती हैं। लेख में इस बात की समझ बनाने के लिए कई किताबों, उनकी विषयवस्तु और बातचीत के उदाहरण दिए गए हैं। -सं.

हम सभी के अनुभव हैं कि अगर बच्चों के बीच ज़्यादा-से-ज़्यादा साहित्य की किताबें रखें या साहित्य के बहाने बच्चों से चर्चा करें तो बच्चे जल्दी ही अपनी कल्पनाशीलता के ज़रिए कहानी-कविता बनाने लगते हैं। इस तरह बच्चों का शब्द-भण्डार भी समृद्ध होता है। वे एक तरफ़ तो शब्दों से खेलने लगते हैं, और दूसरी तरफ़ साहित्य में निहित मानवीय-सामाजिक मूल्य उनके मानस को प्रभावित भी करते हैं।

पिछले दस-बारह वर्षों से फ़ील्ड में काम करते हुए समझ में आता है कि बच्चों को पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित कर दिया गया है। बच्चों को पाठ्यपुस्तक में दिए गए प्रश्न-उत्तर के रूप में ही अपनी बात कहनी होती है। कल्पना, भावना, तार्किक चिन्तन, अनुभव और अनुमान की स्कूलों में कोई ख़ास गुंजाइश नहीं होती है। बाल साहित्य के ज़रिए ये सारे मौक़े बच्चों को उपलब्ध हो पाते हैं, लेकिन उसके इस्तेमाल को लेकर एक आशंका, जड़ता और परहेज़ लगातार देखने को मिलता है।

कितनी बड़ी विडम्बना है कि बच्चे अपने मन में उभरी वेदना, पीड़ा और ख़ुशी के भाव अपने शब्दों में व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। अगर बच्चों के हाथों में साहित्य की विभिन्न किताबें रहतीं, उनपर शिक्षक चर्चा करते, बच्चे इन किताबों पर अपना अनुभव व्यक्त कर रहे होते, क्या तब भी स्थिति ऐसी ही होती? ग्रामीण और वंचित तबक़ों के घरों के बच्चों के पास लिखित





साहित्य उपलब्ध ही नहीं है। स्कूल में और फिर दूर-दूर तक लाइब्रेरी ही नहीं है। अच्छा साहित्य कम-से-कम देखने-पढ़ने को तो मिले, उसपर सोचना और उसका विश्लेषण करना तो बाद की बात है। मेरा यह भी अनुभव है कि साहित्य बच्चों को संवैधानिक मूल्यों का एहसास भी करा पाता है। पाठ्यपुस्तकों में इन मूल्यों की बात तो होती है, लेकिन वहाँ वे ऐसी चीज़ों के रूप में बच्चों के सामने आते हैं जिन्हें याद करना है और जिनका अनुसरण करना है। किन-किन परिस्थितियों में कैसे-कैसे मूल्यों से उनका सामना हो सकता है, उनके बारे में सोच पाना, परिस्थिति को समझते हुए उनपर ज़रूरी मूल्यों के हिसाब से निर्णय ले पाना, आदि से जुड़ी बातचीत की जगह ही पाठ्यपुस्तकों में नहीं होती। मूल्यों को महज़ परीक्षा के लिए याद कर लेने का परिणाम यह होता है कि बच्चे अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कई बार मूल्यों से रूबरू तो होते हैं, पर तब भी वे न तो इन मूल्यों को पहचान पाते हैं न ही उनका इस्तेमाल अपनी निर्णय प्रक्रिया में कर पाते हैं। यही नहीं, वे इनको महसूस करने, इनके पक्ष-विपक्ष को समझते हुए इनका विश्लेषण करने और तब अपने तर्क रखने की प्रक्रिया में शामिल ही नहीं हो पाते। साहित्य इन मूल्यों को अलग नज़रिए से भी प्रस्तुत कर पाता है और इसके ज़रिए समता, समानता, बन्धुत्व और न्याय जैसे मूल्यों पर बातचीत की ऐसी सम्भावनाएँ बनती हैं कि बच्चे इन्हें महसूस कर पाएँ।

हमारे स्कूली बच्चों के जीवन में कभी-कभार थोड़ा-बहुत साहित्य यदि पहुँचता भी है तो कहानी सुनाने के अन्त में मिलने वाली शिक्षा के बहाने। शनिवार की बाल सभा में सभी बच्चे पाठ्यपुस्तक की रटी-रटाई कविता-कहानी सुनाकर और इनसे मिलने वाली नैतिक शिक्षा के बारे में एक कथन कहकर मुक्त हो जाते हैं। यहाँ तक कि 'ईदगाह' जैसी कहानी सुनाकर भी हम शिक्षा देना नहीं भूलते। साहित्य से लगाव और प्रेम तब ही होगा जब बच्चों के मन की परतों को खोला जाएगा और उनके साथ विमर्श की गुंजाइश बनाई जाएगी। कहानी के अन्त में यह शिक्षा मिलती है कि हमको 'सच बोलना चाहिए।', 'लालच नहीं करना चाहिए।', 'बेसहारा की मदद करना चाहिए।', 'थोड़े में सन्तोष करना चाहिए।', 'पशु-पक्षियों को नहीं सताना चाहिए।', आदि जैसे पूर्ण विराम वाले वाक्यों से विमर्श के सारे दरवाज़ों को पहले ही बन्द कर दिया जाता है।

जैसा कि मैंने पहले भी रेखांकित किया है, उपयुक्त साहित्य का पठन-पाठन विभिन्न मूल्यों पर न केवल बातचीत की सम्भावनाओं को खोलता है बल्कि यह बच्चों को इन मूल्यों को जीने और उनका एहसास करने का भी मौक़ा देता है। कहानियों में आई विभिन्न स्थितियों से गुज़रते हुए बच्चे उस परिस्थिति में अपने-आप को रख पाते हैं। विभिन्न किरदारों की भूमिका को समझते हुए वे जान पाते हैं कि उन्होंने कोई ख़ास निर्णय किस परिस्थिति में लिया। क्या ऐसा करना सही था? नहीं था तो क्यों नहीं था? यही नहीं, अलग-अलग मत होने पर बच्चे ही ख़ुद आपस

में यह बातचीत भी करते हैं कि उन्हें क्या ठीक लगता है और क्यों? वे अपने अनुभवों को भी इन कहानियों के प्रकाश में व्यक्त करते हैं और सोचते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए था। यह सोचना एक तरह से उन्हें भविष्य में आने वाली परिस्थितियों के लिए भी तैयार करता है। आगे बच्चों के साथ कुछ किताबों पर हुई बातचीत के कुछ उदाहरण विस्तार से दिए गए हैं।

बच्चों के साथ सामाजिक व संवेदनात्मक विषयों पर बातचीत की शुरुआत

कोविड के बाद, स्कूल आए बच्चों के साथ 'सोशल एंड इमोशनल लर्निंग' का एक सत्र लिया। बच्चों से घरों की स्थिति के बारे में चर्चा करते हुए कोविड के दौर के हालात जानने का प्रयास किया। कई बच्चों के परिवार में नज़दीकियों की मौत हुई थी जिससे वे काफ़ी विचलित थे। चर्चा को जब आगे बढ़ाया तब कुछ बच्चे कक्षा में रोने लगे। अपने साथ घटी घटनाओं को वे ठीक से बोल ही नहीं पा रहे थे। मुझे लगा कि बच्चे भावनात्मक रूप से काफ़ी टूट गए हैं इसलिए कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। बच्चों को मैंने कहा कि आज आप जो बात सभी के सामने बोल नहीं पाए, वह कल लिखकर बताना।

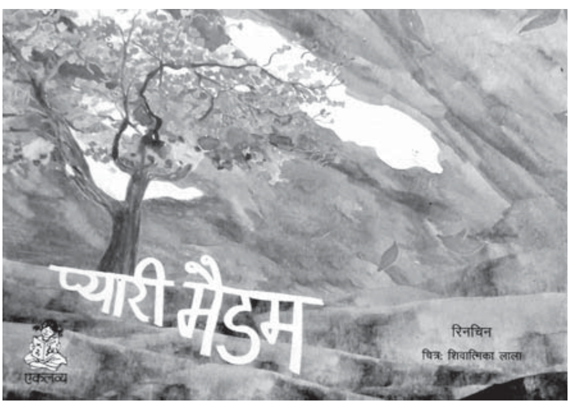
बच्चे घर से जो लिखकर लाए वो इस प्रकार था :

एक बच्ची ने लिखा, "मेरे दादाजी मुझे बहुत प्यार करते थे। वे बीमार थे, मुझे बहुत बुरा लग रहा था। फिर वे मर गए। मुझे बहुत बुरा लगा। मुझे जब भी उनकी याद आती है, मुझे बहुत बुरा लगता है। मुझे उनकी बहुत-बहुत याद आती है, मुझे बहुत बुरा लगता है।"

दूसरे दिन यह बच्ची जब पत्र लेकर मेरे पास आई तो मैंने कहा, "तुम अपनी बात को और अच्छे-से लिख सकती हो कि तुम्हें दादाजी क्यों अच्छे लगते थे? तुम्हारे लिए क्या करते थे? जब उन्हें अस्पताल लेकर गए तब तुम्हें क्या उम्मीद थी?" कक्षा आठ में पढ़ने वाली इस बच्ची ने इन्हीं प्रश्नों के आसपास लिखा, "मुझे दादाजी बहुत अच्छे लगते थे। मेरे लिए लड्डू लाते थे। अस्पताल ले जाते हुए बुरा लग रहा था। जब वह मर गए तब मुझे बहुत बुरा लगा।" वह इसके आगे कुछ लिख ही नहीं पा रही थी। दूसरे बच्चे से मैंने पूछा, "आप लिखकर लाए?" उसने फिर से पूछा, "लिखना क्या है?" आख़िर बच्चे अपनी भावनाओं को क्यों नहीं उभार पा रहे हैं? बच्चे अपने मन की बातों को लिख क्यों नहीं पा रहे हैं? क्या उनके पास शब्दों का अभाव है? ऐसे में शिक्षक का क्या दायित्व है? ऐसे मुद्दे शिक्षा और शिक्षक पर बड़े प्रश्न खड़े करते हैं।

बाल साहित्य के मार्फ़त बच्चों से चर्चा

भोपाल ग्रामीण ब्लॉक में ईंटखेड़ी संकुल के शासकीय माध्यमिक स्कूल, बीनापुर में छठवीं कक्षा के बच्चों के साथ एकलव्य प्रकाशन की किताब *प्यारी मैडम* पढ़ने के बाद जब बच्चों से चर्चा की तो वह अधिकांश बच्चों को अपनी ही कहानी महसूस हुई। एक बच्चे ने कहा, "कोविड के समय मेरे पापा को पुलिस ले गई थी क्योंकि उन्होंने सड़क पर सब्ज़ी का ठेला लगाया था। तीन दिन बाद छोड़ा था। लेकिन ये बात आज तक मैंने स्कूल में किसी को नहीं बताई।" एक लड़की ने बताया, "मेरी माँ ने साहूकार के पास गहने रखकर पैसे उधार लिए थे। पैसे जमा करने के बाद भी वो गहने नहीं लौटा रहा था तो माँ बहुत लड़ी। मेरी दादी बहुत रो रही थी कि उनकी उम्रभर की कमाई



लुट गई। मैं बहुत डर गई थी कि अब क्या होगा! बाद में पुलिस की मदद से गहने वापस मिले। सहेलियों को मैंने ये बात बताई, लेकिन स्कूल में और किसी को नहीं बता सकी।"

एक बच्ची ने दादाजी को एम्बुलेन्स में अस्पताल ले जाने का अपना अनुभव बताया। उसे लगा था कि अब दादाजी कभी लौटकर नहीं आएँगे। उसका डर सही निकला, दादाजी एक सप्ताह के बाद नहीं बचे। उनका बिस्तर-कपड़े बहुत दिनों तक घर पर ही रखे रहे। उनका सामान देखकर उनकी बहुत याद आती थी। यह बताते हुए वह रोने लगी। बाद में उसने कहा कि दादाजी को शान्ति मिल गई। अब दुख नहीं होता। सभी लोग तो मरते ही हैं।

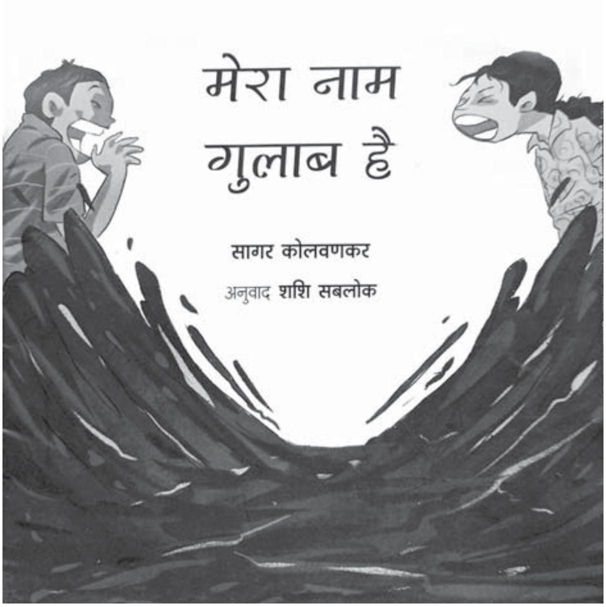
किताब की बात को जोड़ते हुए एक बच्चे ने बताया कि पहले वो एयरपोर्ट के पास अचारपुरा की तरफ़ बस्ती में रहते थे। बाद में उन्हें वहाँ से हटा दिया गया तो वे इस गाँव में आकर रहने लगे। उनका एक पालतू कुत्ता था, जो वहीं रह गया।

इसके बाद जब बच्चों से लिखने को कहा तो एक बच्ची ने पूछा, "क्या हम भी अपनी मैडम को पत्र लिख सकते हैं।" मैंने कहा, "बिलकुल लिख सकते हैं। जिसको भी हम अपने मन की बात बताना चाहें उसे लिखकर भी बता सकते हैं।" कई बच्चों ने पत्र लिखकर मुझे दिए पर कई ने नहीं, क्योंकि उन्हें संकोच था। पर मैं कह सकती हूँ कि उन्होंने अपनी बात खुलकर लिखी होगी, क्योंकि चर्चा में उनकी अच्छी भागीदारी थी और वे मसले को न सिर्फ़ समझ रहे थे बल्कि अपने अनुभवों से भी जोड़ पा रहे थे।

इसी तरह तूलिका प्रकाशन की किताब *मेरा नाम गुलाब है* पढ़ने के बाद की चर्चा में एक बच्चे ने कहा कि उसके पिताजी इसी स्कूल में सफ़ाई का काम करते हैं। कहानी के माध्यम से कुछ इधर-उधर की बातों के बाद उसने कहा कि स्कूल में कुछ दूसरे बच्चे उसे अपने साथ नहीं खिलाते और चिढ़ाते भी हैं। उसने छुआछूत या भेदभाव शब्द का तो ज़िक्र नहीं किया, लेकिन वह अपने अनुभव को व्यक्त कर पा रहा था। फिर साफ़-सफ़ाई को लेकर बात हुई। दूसरे बच्चों ने ही कहा कि साफ़-सफ़ाई तो अच्छी बात है। गन्दगी ग़लत बात है। साफ़-सफ़ाई वाले तो अच्छा काम करते हैं। गन्दा काम तो गन्दगी फैलाने वाले लोग करते हैं। एक बच्ची ने कहा कि बिल्ली या कुत्ता मरा हो तो कितनी बदबू फैल जाती है, लोग उस रास्ते से गुज़रते नहीं। अगर साफ़-सफ़ाई वाले नहीं उठाएँ तो बहुत मुश्किल हो जाती है। इस बहाने इस जटिल मसले पर थोड़ी बातचीत हो पाई। कक्षा में बैठी शिक्षिका इस बातचीत से थोड़ी असहज हो रही थीं और ये कहने की कोशिश कर रही थीं कि हमारे स्कूल में ऐसा कोई भेदभाव नहीं होता है।

साहित्य जो खोल सकता है चर्चाओं के सूत्र

आज बच्चों के साहित्य में काफ़ी विविधता देखने को मिल रही है। इसमें बच्चों के बीच

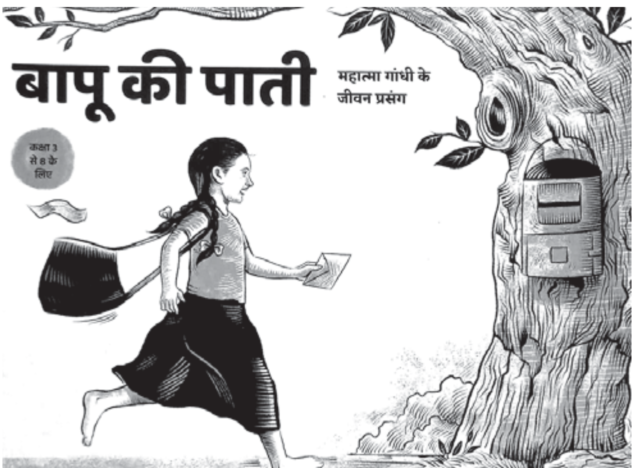


द्वन्द्व, दबाव और कुण्ठा, उनके प्रति हो रही असमानता, अभाव व भेदभाव आदि को बख़ूबी उभारा गया है। इस साहित्य में दलित, वंचित, ग्रामीण बालिकाओं के प्रति असमानता को विविध कथानकों के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया जा रहा है। यह साहित्य बच्चों की भाषा, सौन्दर्य, सवाल, कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के साथ ही जीवन के प्रति उनके नज़रिए का भी पता देता है। कुछ किताबों को लेकर हमने बच्चों व शिक्षकों के साथ काम किया, उसके कुछ उदाहरण ऊपर भी आए हैं। यहाँ कुछ और किताबों के नाम और उनकी विषयवस्तु के बारे में जानकारी दी गई है। बच्चों और शिक्षकों के साथ इन किताबों के माध्यम से चर्चा करने पर कई सारे मुद्दों / अवधारणाओं को सीखने में मदद मिल सकती है। इन किताबों पर चर्चा के माध्यम से बच्चों में नई रोचकता, प्रेरणा, उत्सुकता और चिन्तन के आयाम खोलते हुए कई सारे कौशलों का विकास किया जा सकता है।

क्रम	किताब का नाम और लेखक	किताब की विषयवस्तु	संवैधानिक मूल्यों से जुड़े कौशलों का विकास
1.	*हम भारत के बच्चे : हमारे संविधान की उद्‌देशिका,* लीला सेठ	किसी भी देश के बच्चों को यदि अच्छा नागरिक बनाना है तो बच्चे हमारे संविधान के उद्‌देश्यों को जानें।	संवैधानिक मूल्यों को जानना और समझना। यह मूल्य बने कैसे? इन मूल्यों को कैसे अपनाया जाए?
2.	*बापू की पाती: महात्मा गाँधी के जीवन प्रसंग,* सोपान जोशी	महात्मा गाँधी के जीवन और कर्मयात्रा पर आधारित उनकी सचित्र जीवन कथा को प्रस्तुत किया है। यह प्राथमिक कक्षाओं के लिए बहुत बेहतरीन किताब है। यह बिहार सरकार के द्वारा कक्षा तीसरी से आठवीं तक के लिए बनाई गई है। इसमें 'अ' से अहिंसा, 'आ' से आश्रम जैसे हर वर्ण को लेते हुए गाँधी के काम की कहानी लिखी है।	महात्मा गाँधी के बारे में जानकारी, देश की आज़ादी के संघर्ष और अँग्रेज़ी शासन से अवगत कराना। वर्णों को लेकर नयापन। नए शब्दों, नए नगरों और शहरों की जानकारी।
3.	*एक था मोहन : महात्मा गाँधी का जीवन परिचय,* सोपान जोशी	इस पुस्तक में मोहन से महात्मा गाँधी बनने की पूरी यात्रा का ज़िक्र है। इसे पढ़ाना बच्चों के लिए काफ़ी रोचक और जानकारी से भरा है।	बचपन की छवियों, धारणाओं और मान्यताओं को बड़े होने तक किस प्रकार ख़ारिज कर देते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व के संघर्ष को जानना और समझना।
4.	*प्यारी मैडम,* रिनचिन, एकलव्य प्रकाशन	इस कहानी के माध्यम से बच्ची अपने विस्थापन के दर्द को अपनी शिक्षिका को पत्र लिखकर बताती है।	आदिवासी समाज, रोज़गार, विस्थापन और शिक्षा के विषयों को जानना और समझना।

5.	*माँ*, कांचा आइलैया शेफ़र्ड, हिन्दी अनुवाद : सुशील शुक्ल	एक गड़रिया बच्चा जिसकी माँ स्कूल में अपने बच्चे के दाख़िले के लिए शिक्षक से जद्दोजहद करती है। बच्चा, जो एक विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर है, अपनी जाति के लोगों को लामबन्द करने के अपनी माँ के संघर्षों को बड़े गर्व के साथ याद कर रहा है।	जाति संघर्ष को समझना। समुदायों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को जानना।
6.	*मेरा नाम गुलाब है*, सागर कोलवणकर, हिन्दी अनुवाद : शशि सबलोक, तूलिका प्रकाशन	स्कूली बच्ची को गुलाब के साथ पढ़ने वाले बच्चे उसे 'बदबूदार गुलाब' बुलाते हैं। इसलिए नहीं कि उससे बदबू आती है, बल्कि इसलिए कि उसके पिता मैला ढोते हैं। आज भी उसके पिता को हाथों से मैला साफ़ करना होता है। विज्ञान की बदौलत वह बदलाव की ओर पहला क़दम रखती है।	बच्चे ग़ैर-बराबरी और जातिगत भेदभाव को जानें-समझें। अधिकारों को जानना और समझना। लोक कल्याणकारी राज्य को आलोचनात्मक रूप से परखना।
7.	*फिर जीत गई ताटकी और दिलेर बड़य्या,* मूल तेलुगु कहानी, गोगू श्यामला, एकलव्य प्रकाशन	ज़िन्दगी की बातें करती ये कहानियाँ ऐसे समुदायों के बच्चों की कहानियाँ हैं जो तथाकथित पढ़े-लिखे समुदायों में अपने परिवार के लिए जगह बनाना चाहते हैं।	छुआछूत और दलितों के प्रति रवैए को देखना और जानना। न्याय और समानता को समझना।
8.	*न्यायसंगत होने का महत्त्व -* नेल्ली बलाई की कहानी	नेल्ली का असली नाम एलिजाबेथ कॉकरेन था। जब वह 20 साल की थी और वह लेखक बनाना चाहती थी, उसने पिट्सबर्ग डिस्पैच अख़बार में एक लेख पढ़ा, जिसका शीर्षक था 'कौन-से काम लड़कियों के लिए उपयुक्त हैं?' उस समय महिलाओं को वोट देने का अधिकार नहीं था और रोज़गार के अवसर भी काफ़ी कम थे।	सामाजिक विषमताओं को समझना। न्यायसंगत समाज की ओर क़दम।
9..	*लड़का क्या है? लड़की क्या है?*, कमला भसीन	बच्चियों की ज़िन्दगी में भेदभाव और असमानता क्यों है? ग़ैर-बराबरी पर सवाल उठाती है।	प्राकृतिक और शारीरिक अन्तर से भेदभाव। असमानता और भेदभाव को जानना।

10.	*आएशा,* पीटर वान आऊधस्देन, ए एण्ड ए पब्लिकेशन	आएशा एक छोटी-सी आम लड़की है। उसे सुल्तान को अपनी मुसीबतों और उनके राज्य में जो ग़लत चल रहा है, उसके बारे में बहुत कुछ बताना है। यह कड़वी-सच्ची बातें सुल्तान को बताने की हिम्मत कोई नहीं रखता।	राजतंत्र और लोकतंत्र के अन्तर को जानें-समझें। लोक कल्याणकारी राज्य में मुखिया तक अपनी बात किन माध्यमों से कही जा सकती है।
11.	*काश ! मुझे किसी ने बताया होता !!* कमला भसीन	इसमें किशोरावस्था में बच्ची के मन में उठने वाले प्रश्न हैं।	अधिकार और न्याय के बारे में जानना।
12.	*कोई ऊपर कोई नीचे,* पलोमा वलिद्विया	पृथ्वी गोल है। एक हिस्सा ऊपर है और एक नीचे। लेकिन लोग दोनों तरफ़, ऊपर या नीचे, एक जैसे ही हैं।	विविधता और समानता के मूल्यों को जानें।
13.	*क़िस्सों की दुनिया,* प्रमोद पडवल, उमेश कुमार	इस पुस्तक में बाल कहानियों को सम्मिलित किया है। पाठकों को राष्ट्र-निर्माताओं, वैज्ञानिकों और श्रेष्ठ खिलाड़ियों के जीवन संघर्ष से रूबरू करवाया गया है।	महात्मा ज्योति राव फुले, अम्बेडकर, अब्दुल कलाम के साथ मराठी राजनैतिक और स्वतंत्रता आन्दोलन के संघर्ष की कहानी को पढ़ना और समझना।



यह एक छोटी सूची है। इसमें और किताबें जोड़ी जा सकती हैं और इस सूची को लगातार बड़ा बनाया जा सकता है। यदि हम दस-बारह किताबें ही प्राथमिक और उच्च प्राथमिक के बच्चों के साथ इस्तेमाल कर पाएँ, पढ़कर चर्चा करवा पाएँ तो हम बच्चों में कितने ही कौशलों और दक्षताओं को विकसित होने का मौक़ा बना सकते हैं। साथ ही मानवीय-सामाजिक मूल्यों की झलक भी इसी बहाने मिलती रह सकती है।

अंजना त्रिवेदी विगत ढाई दशकों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। शिक्षण-प्रशिक्षण के साथ ही पत्र-पत्रिकाओं के लिए सतत लेखन रहा है। महिला स्वास्थ्य, शिक्षा एवं नागरिक अधिकार इनके प्रमुख विषय रहे हैं। अंजना ने पिछले दस सालों तक अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, भोपाल, मध्यप्रदेश में सामाजिक विज्ञान स्रोत व्यक्ति के रूप में काम किया है। वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से बतौर सलाहकार कार्य कर रही हैं।

सम्पर्क : trivedi20anjana@gmail.com

वन व्यंजन उत्सव : एक शैक्षिक आयोजन

लता बतकू, अमित कोहली



साधना विद्यालय महाराष्ट्र के पूर्वी छोर पर इन्द्रावती नदी से कुछ दूर एक छोटा-सा गाँव है, जिंजगाव। वहाँ एक सादा-सा प्राथमिक स्कूल है– साधना विद्यालय। इसे शुरू हुए तक़रीबन पाँच बरस हो गए हैं। स्कूल में विभिन्न जातियों-जनजातियों के आठ अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाले विद्यार्थी साथ पढ़ते हैं। ये भाषाएँ हैं– मराठी, गोण्डी, माडिया, तेलुगु, महारी, मागदी, गोवारी और हलबी। महाराष्ट्र की प्रान्तीय भाषा मराठी है और स्कूल की माध्यम भाषा अँग्रेज़ी। इस तरह साधना विद्यालय की हर कक्षा 'बहुभाषीय कक्षा' है।

यह स्कूल अभी कक्षा चौथी तक है। इसकी दो कक्षाएँ पेड़ की छाँव में लगती हैं और दो कमरे में। आसपास के 12-15 किमी दायरे के तक़रीबन 12 गाँवों के बच्चे यहाँ पढ़ने आते हैं। पाँच किमी तक से आने वाले विद्यार्थियों को स्कूल की ओर से साइकिलें मुहैया कराई गई हैं और उससे आगे के गाँवों से आने वालों के लिए बस का इन्तज़ाम है।

परिवेश में मिलने वाली सामग्री ही शैक्षणिक सामग्री के तौर पर इस्तेमाल होती है, जैसे, मिट्टी से बनाए मोती और उनकी माला का उपयोग गिनती व स्थानीय मान सीखने और जोड़-घटाव करने के काम आता है। इसी तरह इमली वग़ैरह के बीज, लकड़ियों आदि का इस्तेमाल किया जाता है।

स्कूल में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी आर्थिक रूप से कमज़ोर परिवारों से आते हैं। यहाँ आसपास धान की खेती होती है और प्रमुख खाद्य पदार्थ चावल है। अधिकांश विद्यार्थियों के पालक दिहाड़ी मज़दूरी करते हैं। बच्चों से



चित्र : अमित कोहली

उनके घर में क्या-क्या पकता है और कौन-कौन से अनाज, कौन-कौन सी सब्ज़ियाँ व फल इस्तेमाल होते हैं। विद्यार्थियों ने बताया कि हमारे घरों में भात, अम्बाडी *(hibiscus sabdariffa)* का शाक और दाल ज़्यादा खाई जाती है। इन विद्यार्थियों ने आगे बताया कि भुनी हुई छोटी मछलियाँ और माँस भी हम काफ़ी खाते हैं। तक़रीबन हर भाजी में भुनी मछलियाँ और हर दाल में भुने माँस के छोटे-छोटे टुकड़े हम डालते हैं।

अम्बाडी के बारे में विद्यार्थियों ने बताया कि वह साल की तीनों ऋतुओं में हम खाते हैं। गर्मियों में पानी की कमी की वजह से ज़्यादा सब्ज़ियाँ नहीं उगाई जा सकती हैं, इसलिए ठण्ड के मौसम में जब मूँग, लोबिया *(vigne unguiculata)* वग़ैरह लगाते हैं, तब उसके साथ कुछ अतिरिक्त मात्रा में अम्बाडी भी बो दी जाती है। फिर उसके कोमल हरे पत्तों को पूरी तरह सुखा लिया जाता है और उसका चूर्ण बनाकर, साफ़ कपड़े में लपेटकर गर्मियों में खाने के लिए सुरक्षित रख लेते हैं।

अम्बाडी के बारे में विद्यार्थियों ने हमें बताया कि उस पौधे के हर हिस्से का उपयोग किया जाता है। पत्तों की भाजी तो होती ही है; उसके फूल की पंखुड़ियाँ काफ़ी खट्टी होती हैं, जिन्हें तरकारी या दाल में टमाटर के एवज में डाला

हमारा रिश्ता शिक्षक-विद्यार्थी का नहीं, बल्कि मैत्री का है।

परिसर अभ्यास

इस स्कूल में महाराष्ट्र राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल का सिलेबस अपनाया गया है और उसके द्वारा विकसित पाठ्यपुस्तकों के ज़रिए पढ़ाया जाता है। एक बार, पहली कक्षा में *परिसर अभ्यास* (Environment Studies) के एक पाठ 'Our Need for Food' पर बातचीत हो रही थी। हालाँकि यह पुस्तक तीसरी कक्षा से लागू होती है, लेकिन हम मानते हैं कि पहली-दूसरी कक्षाओं के विद्यार्थियों के बीच भी अपने आसपास के परिवेश के बारे में कुछ बुनियादी समझ और कई जिज्ञासाएँ व सवाल होते हैं। लिहाज़ा उनसे इस विषय पर बातचीत करना और उनकी समझ को विस्तार देना हम ज़रूरी मानते हैं। इसलिए तीसरी कक्षा की पाठ्यपुस्तक के कुछ पाठों और अवधारणाओं पर हम पहली और दूसरी कक्षा के विद्यार्थियों के साथ भी चर्चा करते हैं।

विद्यार्थियों के साथ बातचीत

'Our Need for Food' शीर्षक वाले पाठ में भोजन के बारे में बताया गया है। इसी विषय पर पहली कक्षा में बातचीत चल रही थी। खानपान की इस बातचीत में विद्यार्थियों को मज़ा आ रहा था। वे बढ़-चढ़कर बता रहे थे कि



चित्र : अमित कोहली

जाता है। इन फूलों से चटनी भी बनती है जो दाल और भात के साथ खाई जाती है।

अम्बाडी का पौधा जब पूरी तरह बढ़ जाता है, तब उसे उखाड़कर धूप में सुखाते हैं। फिर उसके फूल से बीज और पंखुड़ियों को अलग कर लिया जाता है। मई में जब तेन्दूपत्ता तोड़ने का समय आता है, तब इन सूखी पंखुड़ियों से शरबत बनाकर पिया जाता है।

विद्यार्थियों ने बताया कि रोज़ाना के खाने में वे जंगल में पाई जाने वाली पत्तेदार शाक-भाजी का इस्तेमाल ज़्यादा करते हैं। जैसे– कायमुल, कडू भाजी, बोदी, बोनकी, गुहुक, मशरूम, कोडोळ *(bauhinia variegata)*, एमेल, रेला फुंगा *(cassia fistula)*, वाला फुंगार, किकेल, वदेल। इसके अलावा वे लोग बाँस के तने (bamboo shoots) की सब्ज़ी भी बनाते हैं। इस व्यंजन को गोण्डी में 'कारकु' और तेलुगु में 'काँका चोकुल' कहते हैं।



चित्र : अमित कोहली

त्यौहारों और विशेष अवसरों पर क्या पकता है? इस सवाल से विद्यार्थियों का जोश और बढ़ गया। उन्होंने न सिर्फ़ कई सारे व्यंजनों के नाम और उनमें लगने वाली सामग्री के बारे में बताया, बल्कि पकाने की विधियों का भी उत्साहपूर्वक वर्णन किया। इससे हमें समझ में आया कि त्योहारों पर बनने वाले व्यंजनों में गेहूँ के आटे का उपयोग अधिक होता है। यहाँ गेहूँ उगाया तो नहीं जाता, लेकिन सार्वजनिक वितरण प्रणाली के ज़रिए राशन की दुकानों पर मिलता है।

गेहूँ के आटे में स्वादानुसार शक्कर और पानी मिलाकर सान लेते हैं। उस साने हुए आटे के बड़े-बड़े गोले बनाकर उनसे बड़ी-सी रोटी बेली जाती है। स्टील के गिलास को उलटकर उसकी धार वाले सिरे से उस रोटी को मध्यम गोलाकार टुकड़ों में काट लिया जाता है। इन टुकड़ों को तेल में तलकर खाते हैं। इस पकवान को गोण्डी में 'ग्लास हारी', तेलुगु में 'ग्लास रोट्या' और महारी में 'ग्लास भाकरी' कहते हैं।

गेहूँ के आटे में स्वादानुसार नमक, मिर्च और हल्दी डालकर अच्छे-से सान लिया जाता है। फिर उसके छोटे गोले बनाए जाते हैं। उसके बाद एक पतीले में अन्दर की ओर तेल लगा दिया जाता है। अब आटे का वह गोला उस पतीले में रखकर हाथ से दबाते हुए उसे पतीले के आकार के अनुरूप बड़ा करते जाते हैं। आख़िर में वह पूरे पतीले का आकार ले लेता है। इसके बाद उसे तवे पर रखकर सेंका जाता है। इस व्यंजन को 'गंज हारी' कहते हैं। गोण्डी में पतीले को 'गंज' कहा जाता है।

गेहूँ के आटे को थोड़ा ज़्यादा गीला करके उसमें स्वादानुसार चीनी और चुटकीभर नमक डालकर दोसे की तरह का मिश्रण बनाया जाता है। उसे दोसे जैसा ही तवे पर फैलाकर सेंक लिया जाता है। इसे गोण्डी में 'लीबिड हारी' और महारी भाषा में 'आटलू' कहते हैं।

विद्यार्थियों ने बताया कि गर्मियों में जंगल से बहुत सारी चारोली *(buchanania lanzan)* बीनकर इकट्ठा की जाती है। उसे सुखाकर बीज निकाला जाता है और उन बीजों को गेहूँ के आटे में डालते हैं। थोड़ी चीनी और पानी



चित्र : अमित कोहली

मिलाकर उसे मुलायम सान लिया जाता है। चकले और बेलन की सहायता से इस आटे की रोटी बनाई जाती है और उसे तेल में तलकर खाते हैं। इस पकवान को गोण्डी में 'मेंजा हारी' कहते हैं।

चावल को कुछ देर पानी में भिगोकर रखा जाता है। उसके बाद किसी साफ़ कपड़े पर फैलाकर सुखाया जाता है। थोड़ा सूखने पर चावलों को ऊखल में कूटकर आटा बनाया जाता है। उसमें नमक और काले या फिर सफ़ेद तिल डालकर महीन सानते हैं। किसी भी उपकरण का इस्तेमाल न करते हुए सिर्फ़ हाथ की उँगलियों से उसे सर्पिल कुण्डली का आकार देते हैं। इस पकवान को गोण्डी भाषा में 'चाकलेख', तेलुगु में 'चाकन्याल' और महारी भाषा में 'चाकुल्या' कहते हैं।

गर्मियों के मौसम में चार-पाँच तरह के अनाजों को मिलाकर उनका आटा बनाया जाता है। उससे पेय बनाए जाते हैं। उसमें गोहुकू, गोमाल (गेहूँ), ओन्ना, मक्के (मक्का), नेल जोन्ना, जोन्ना, जोद्रे (ज्वारी), पारीक, बियाम, तान्दुर (चावल) आदि अनाजों को इकट्ठा करके हाथ से चलने वाली पत्थर की घट्टी (चक्की) पर पीसकर आटा बनाया जाता है। इस आटे को एक छोटे मटके में बहुत सारा पानी मिलाकर तीन-चार दिन तक ख़मीर उठने के लिए छोड़ दिया जाता है। जब उसमें से खट्टी गन्ध आने लगती है, तब मटके से आटे को निकालकर खौलते हुए पानी में बहुत देर तक उबाला जाता है और थोड़ा-सा नमक डाला जाता है। इस व्यंजन को गोण्डी में 'जावा', तेलुगु में 'आम्बेल', महारी भाषा में 'आम्बील' और गोवारी में 'पेयाला' कहा जाता है।

जब मक्का गीला होता है, तब भुट्टे से उसके दाने निकालकर सिलबट्टे पर महीन पीस लिए जाते हैं। इसमें चीनी डालकर एक मिश्रण बनता है। किसी साफ़ सूती कपड़े पर उस मिश्रण की छोटी-छोटी गोल चकतियाँ बनाकर रखी जाती हैं। फिर उसे तेल में तलकर खाते हैं। गोण्डी में इस व्यंजन को 'जोन्ना हारी', तेलुगु में 'मक्के गाऱ्याल' और महारी भाषा में 'मक्या वडे' कहते हैं।

सूखे मक्के के उपयोग के बारे में पूछने पर विद्यार्थियों ने बताया कि पूरी तरह सूख जाने के बाद मक्के के दाने निकाल लिए जाते हैं और हाथ से चलने वाली पत्थर की घट्टी (चक्की) पर पीसकर उनका आटा बनाते हैं। खौलते हुए पानी में उस आटे को डालकर काफ़ी देर तक पकाते हैं। इस दौरान कड़छी से उसे लगातार हिलाते रहना पड़ता है ताकि वह चिपक न जाए। इस तरह दलिया जैसा बन जाता है। इसे मूँग, लोबिया या वाल *(vicia faba)* की दाल के

साथ खाया जाता है। इस पकवान को गोण्डी में 'जोन्ना घाटो' और तेलुगु भाषा में 'घाटका' कहा जाता है।

कद्दू और गेहूँ के आटे के पकौड़े भी बनाए जाते हैं। अगर बाज़ार से लाया गया तेल पर्याप्त न हो तो महुए के बीज से बनाए तेल का इस्तेमाल तलने के लिए किया जाता है। इस तेल को 'गारा निई' कहते हैं।

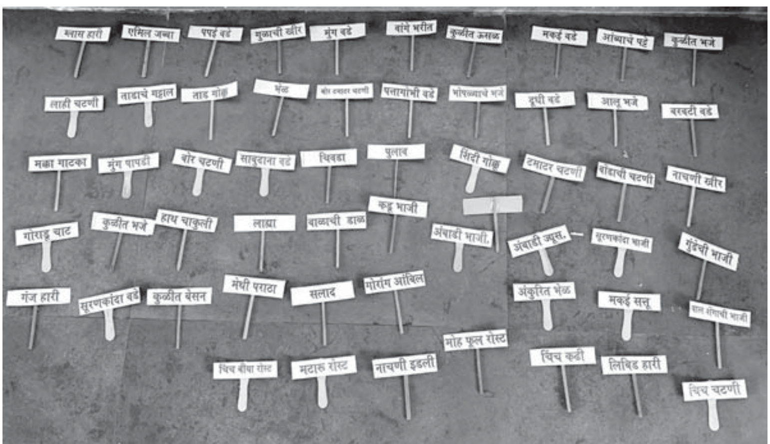
व्यंजनों के बारे में यह चर्चा बहुत मज़ेदार रही। इसमें बच्चों को अभिव्यक्ति के कई मौक़े मिले। कई विद्यार्थियों ने कुछ व्यंजन खाए थे, बनते हुए देखे भी थे, लेकिन उनके नाम पता नहीं थे। बातचीत के ज़रिए कई अनाजों, सब्ज़ियों, मसालों आदि के विभिन्न भाषाओं में नाम भी एक दूसरे से जानने को मिले। इस चर्चा में विद्यार्थियों को अपनी पसन्द-नापसन्द साझा करने के भी मौक़े मिले। कई दिनों तक यह सिलसिला चलता रहा। गोण्डी, तेलुगु, गोवारी, महारी भाषा बोलने वाले विद्यार्थी अपने सहपाठियों से पूछताछ करते रहते थे कि तुम इस चीज़ को क्या कहते हो या उस चीज़ को क्या कहते हो ?

उत्सव का विचार

पहली कक्षा के विद्यार्थियों के साथ यह बातचीत तक़रीबन एक हफ़्ते तक चली। स्कूल की साप्ताहिक बैठक में कक्षाध्यापिका ने इस रोचक चर्चा को अपने साथियों से साझा किया। बच्चों का प्रतिभाग सभी के लिए अनपेक्षित और उत्साहवर्धक था। साधना विद्यालय के शिक्षकों ने महसूस किया कि यह बातचीत अकादमिक रूप से भी उपयोगी है और इसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए। उस बैठक में तय किया गया कि खाने के विषय पर अन्य कक्षाओं में भी बातचीत की जाए। इस तरह उसका विस्तार सभी कक्षाओं में हुआ। साथ ही, यह भी विचार किया जाने लगा कि सभी विद्यार्थियों को ये तमाम व्यंजन चखने को कैसे मिल सकते हैं!

पहला उपाय था कि विद्यार्थियों को टिफ़िन में व्यंजन लाने को कहा जाए। हालाँकि विद्यार्थियों को सुबह का नाश्ता और दोपहर का खाना स्कूल की तरफ़ से ही दिया जाता है, फिर भी कभी एकाध दिन टिफ़िन मँगवाया जा सकता था। फिर सवाल उठा कि आख़िर एक बच्ची अपने टिफ़िन में सबके लिए तो व्यंजन नहीं ला पाएगी! दूसरा विचार आया कि शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर कोई दिन मुक़र्रर करके कुछ व्यंजन बनाएँ और मिलकर खाएँ। यह विचार अच्छा था, लेकिन इसमें दिक़्क़त यह थी कि जिन तमाम व्यंजनों का ज़िक्र विद्यार्थियों ने अपनी कक्षाओं में किया था, शिक्षकों को उनमें से कुछ ही बनाने आते थे। इसके समाधान के रूप में सोचा गया कि क्यों न पालकों का सहयोग लिया जाए!

सलाह और सहयोग लेने के लिए स्कूल में एक पालक सभा बुलाई गई। उसमें सभी विद्यार्थियों के पालकों ने उत्साह से सहमति जताई। पालकों से बातचीत में व्यंजनों की सूची थोड़ी और लम्बी हो गई। खाना पकाने के साथ



चित्र : अमित कोहली

कुछ पारम्परिक खेल और गतिविधियाँ करने की भी योजना बन गई। इस तरह चन्द पालकों की सहायता से एक आयोजन करने का विचार विकसित होकर 3 फरवरी, 2023 को 'वन व्यंजन उत्सव' के रूप में अमल में आया।

तैयारी

पालक सभा में 58 प्रकार के व्यंजनों की सूची बन गई थी। वहाँ 24 गाँवों के 21 समूह भी बने और उन समूहों ने व्यंजन सूची में से अपने लिए 1-2 पकवान बनाने की ज़िम्मेदारी भी ले ली। अभिभावकों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए स्कूल प्रबन्धन ने तय किया कि तेल, चीनी, दाल जैसी महँगी सामग्री स्कूल द्वारा प्रदान की जाएगी। सब्ज़ियाँ, अनाज, मसाले, जलावन, वग़ैरह का इन्तज़ाम पालक अपने स्तर पर करेंगे।

विद्यार्थियों और शिक्षकों ने मिलकर उत्सव में शामिल होने वाले व्यक्तियों की अनुमानित संख्या निकाली। हर व्यंजन के लिए हर गाँव को क्या और कितनी सामग्री स्कूल से देनी है, इसका हिसाब किया गया। उत्सव के 2-3 दिन पहले यह सामग्री गाँव-गाँव जाकर बाँट दी गई।



चित्र : अमित कोहली

जिंजगाव के पास जंगल में एक बड़ा-सा तालाब है। वहाँ काफ़ी छायादार पेड़, ठण्डक और शान्ति है। इसलिए उसके किनारे यह उत्सव करना तय हुआ। गाँव के युवकों ने स्कूल के विद्यार्थियों और शिक्षकों के साथ मिलकर वहाँ सामूहिक श्रमदान किया। जहाँ ज़मीन ऊबड़-खाबड़ थी, उसे समतल किया गया। सूखे पत्तों और घास-फूस को झाड़कर खाना पकाने, बैठने, खेलने, वग़ैरह के लिए जगहें बनाई गईं।

खाना पकाने वालों के जो समूह बने थे, उनके लिए किसी पेड़ या पत्थर के पास जगह निर्धारित करके वहाँ सूचना-पट्ट लगाए गए। इन सूचना-पट्टों पर खाना बनाने वाले पालकों के नामों के साथ-साथ गाँव और व्यंजनों के नाम भी लिखे थे।

खाना पकाने, पीने और बर्तन धोने के लिए पानी गाँव से ढोकर लाना था। उसके लिए ट्रैक्टर, ट्रॉली और ड्रमों का इन्तज़ाम जिंजगाव की ओर से किया गया। कचरा जमा करने और उसके निपटारे के लिए भी बच्चों और शिक्षकों ने मिलकर इन्तज़ाम किया। प्लास्टिक-पॉलिथीन का निषेध था। खाना खाने और अन्य इस्तेमाल के लिए पालकों से ही कहा गया था कि वे पाँच-सात दोने और पत्तल साथ लेकर आएँ, ताकि उनके साथ-साथ मेहमानों की भी व्यवस्था हो जाए। जो लोग मोटरसाइकिल से आने वाले थे, उनके लिए कुछ दूरी पर पार्किंग का इन्तज़ाम था। विद्यार्थियों और शिक्षकों के समूह ने सफ़ाई, कचरा प्रबन्धन, जलापूर्ति, खाद्य सामग्री वितरण, खेल आयोजन, सजावट जैसे विभाग आपस में बाँट लिए थे। हर समूह में एक-एक शिक्षक और बालवाड़ी से चौथी तक के विद्यार्थी शामिल थे।

आयोजन

सुबह आठ बजे के दरमियान अधिकांश पालक तालाब किनारे पहुँच गए थे। वे अपने साथ उनके विशेष व्यंजन पकाने की सामग्री तो लाए ही थे, साथ ही ज़रूरत के मुताबिक़ बर्तन भी लाए थे। घूम-घूमकर उन्होंने अपना नियत स्थान खोजा। विद्यार्थियों ने उनकी मदद की। आसपास से पत्थर लाकर चूल्हे बनाए और जंगल से सूखी लकड़ियाँ चुनकर उन्हें सुलगाया गया।

अपने-अपने चूल्हों के पास लोग चटाई पर बैठकर प्याज़ काटने, आटा सानने, सब्ज़ियाँ साफ़ करने जैसे काम कर रहे थे। कुछ लोग यों ही चटाइयों पर सुस्ता रहे थे और कुछ जिज्ञासु अन्य समूहों के पास जाकर पूछताछ कर रहे थे कि वे क्या बना रहे हैं, कैसे !

कुछ देर में शिक्षकों और अभिभावकों ने मिलकर कुछ खेल खेले। इनमें दौड़, निशानेबाज़ी और कुछ अन्य सामूहिक खेल शामिल थे। इसके बाद सबने खाना खाया।



चित्र : अमित कोहली

हमने क्या सीखा ?

साथ खाना बनाने और खाने के आयोजन के पीछे के विचार और उसे कार्यान्वित करने की पद्धति में हमने पाठ्यचर्या और उसके आसपास के कुछ तत्त्वों को समाहित करने की कोशिश की। खाना हमारे लिए रोज़मर्रा की बात तो है, लेकिन जब हम त्योहारों और विशेष मौक़ों पर बनने वाले व्यंजनों की बात करते है, यह इतनी आम बात नहीं होती। विविध संस्कृतियों के लोग अपने पर्वों, त्योहारों और विवाह के अवसरों पर विविध प्रकार के व्यंजन बनाते हैं, न सिर्फ़ उनका स्वाद और रंग-रूप, बल्कि उन्हें खाने का तरीक़ा भी ख़ास होता है।

हफ़्तों पहले योजना बनाना, तैयारियाँ करना, ज़िम्मेदारियाँ बाँटना, ज़िम्मेदारियाँ उठाना, मिलकर काम करना, सहयोग माँगना और सहयोग करना, मौक़े पर पेश आने वाली समस्याओं को हल करना, आयोजन की जगह का चयन करना, आने वाले लोगों की अनुमानित संख्या का गुणा-भाग करके तय करना कि आयोजन के लिए कितनी जगह चाहिए होगी, व्यंजनों की सूची बनाना, खाना बनाने वाले समूहों का निर्माण करना, जोड़-घटाव और प्रमाण-अनुपात करते हुए संख्याएँ निकालना कि दाल, तेल, चीनी और गोरांग *(Raagi, eleusine coracana)* कितना लगेगा, मेहमानों की सुविधा के लिए सूचना-पट्ट बनाना और उन्हें यथास्थान लगाना, उससे पहले यह भी सोचना कि कौन-कौन से सूचना-पट्ट बनाने होंगे, कचरे का व्यवस्थापन, सजावट की योजना, डिज़ाइन, ताड़ के पत्तों के छल्ले बनाना... यह सूची अन्तहीन प्रतीत होती है।

यह सब शिक्षकों और विद्यार्थियों ने मिलकर और बहुत मज़े से किया।

इसमें विद्यार्थियों को कई तरह के अनुभव मिले। उन्होंने कला, भाषा, गणित, परिसर अभ्यास के कुछ सबक़ भी प्रत्यक्ष तौर पर सीखे। किताब में जिस पर्यावरण सन्तुलन की बात होती है, वह जिंजगाव के आसपास के जंगल में नज़र आता है क्या, इसपर बात हुई। खाना पकाने की जगह साफ़ करते हुए किताब में सिखाए क्षेत्रफल को उन्होंने अपनी आँखों के सामने देखा। सजावट के काम में पैटर्न, सौन्दर्यबोध और कला तो थी ही, सूचना-पट्ट बनाने और लगाने के क्रम में थोड़ा-सा भाषा शिक्षण भी हो गया।

लता बतकू विगत पाँच वर्षों से लोक बिरादरी प्रकल्प द्वारा संचालित साधना विद्यालय में शिक्षिका के तौर पर कार्यरत हैं। वे बालवाड़ी और पहली कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाती हैं। इन्हें बच्चों के साथ खेलना, नाचना और भाषा-गणित की गतिविधियाँ करना पसन्द है।

अमित कोहली घुमक्कड़ी करने और पढ़ने के शौक़ीन हैं। तक़रीबन 15 साल एकलव्य फ़ाउण्डेशन के साथ विविध स्तरों पर काम किया है। शिक्षा के इतिहास, डिस्कूलिंग एवं वैकल्पिक शिक्षा में विशेष रुचि है। अमित स्वयं को वैचारिक रूप से गाँधीजी के क़रीब पाते हैं।

सम्पर्क : amt1205@gmail.com

कैसे साथ–साथ चल पाए पढ़ना–लिखना और सुनना–बोलना

महेश झरबड़े

यह लेख मुख्यतः लिखने पर आधारित है। लेखक अपने कक्षा अवलोकनों के आधार पर कहते हैं कि कक्षा में बच्चों के साथ की जाने वाली लिखने की गतिविधियाँ आमतौर पर यांत्रिक और बनावटी होती हैं। कक्षा में उन्हें लिखी या छपी हुई सामग्री को देखकर लिखने या नक़ल का अभ्यास कराया जाता है। यही वजह है कि वे ख़ुद के द्वारा लिखी हुई सामग्री को भी पढ़ नहीं पाते हैं। लेखक ने, लिखना क्या है और लिखने-पढ़ने के कौशल को विकसित करने के लिए बच्चों के साथ कैसे काम किया जाए कि बच्चे समझकर और आत्मविश्वास के साथ लिखना-पढ़ना सीख सकें, इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। -सं.

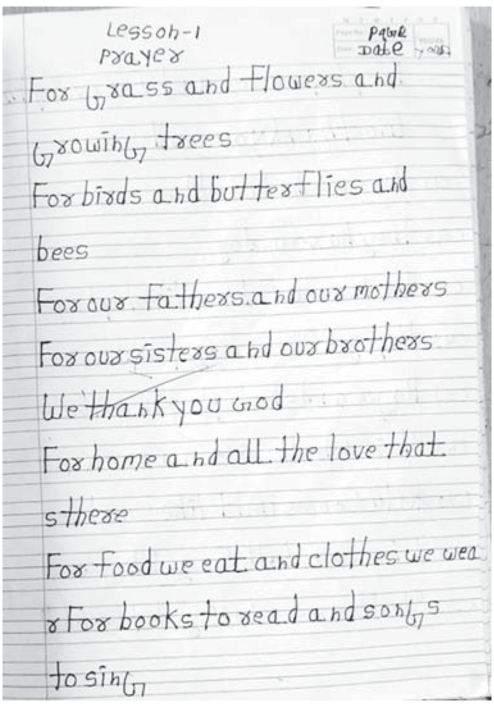
सुनना-बोलना और पढ़ना-लिखना ऐसी अवधारणाएँ हैं, जो शिक्षा के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। सुनने-बोलने वाली अवधारणा के हर पहलू को सीखने, समझने से जोड़कर अब ये कहा जाता है कि सुनना-बोलना और पढ़ना-लिखना एक दूसरे से जुड़े हैं। जब हम बोलते हैं तो सुन भी रहे होते हैं; और जब लिख रहे होते हैं तो पढ़ भी रहे होते हैं। जितने ज़्यादा सुनने और बोलने के अभ्यास होंगे, आगे के वर्षों में पढ़ने-लिखने में ये प्रक्रिया उतनी ही मददगार होगी। यह भी कि न सिर्फ़ पढ़ाई, बल्कि पूरी ज़िन्दगी में हम सब सुनने, बोलने, पढ़ने और लिखने के सफ़र से गुज़र रहे होते हैं। ज़िन्दगी के कई कामों में, हर परिस्थिति में, मैं इन अवधारणाओं को देख पाता हूँ। इसलिए इन अवधारणाओं को किताब तक सीमित कर देना मेरे लिए बेमानी है। अभी स्कूल को ध्यान में रखकर कहूँ तो यदि स्कूल में बच्चे लिख ज़्यादा रहे हैं और लिखा हुआ कम पढ़ रहे हैं, तो इस अवधारणा की पूर्ति में कुछ छूट रहा है।

हाल के महीनों में, मैंने मध्यप्रदेश के खरगोन ज़िले में स्कूलों का भ्रमण किया। इस दौरान मैंने समझा कि प्राथमिक कक्षाओं में 'जब हम लिख रहे होते हैं तो पढ़ (बोल) भी रहे होते हैं' वाली बात पूरी तरह से फ़िट नहीं होती है। स्कूल में बच्चे, ख़ासतौर पर पहली, दूसरी, तीसरी और सम्भवतः अगली कक्षा के बच्चे भी लिखते तो हैं पर लिखा हुआ पढ़ नहीं पाते। हम सब जानते हैं कि बच्चे लिखते हैं। वे नक़ल लिखते हैं, बोर्ड पर लिखा उतारते हैं, किताब में लिखा हुआ कॉपी में लिखते हैं। लेकिन जब लिखा हुआ पढ़ने की बात होती है तो बात कहीं रुक-सी जाती है। यहाँ यह सवाल मन में उठना भी लाज़िमी है कि दीवार पर लिखा हुआ देखकर कॉपी में उतार लेना, नक़ल लिखना, किताब से देखकर लिखना, क्या वास्तव में लिखना है? क्या ये सब लिखते हुए बच्चे कुछ समझ भी रहे होते हैं? यदि नहीं, तो आख़िर लिखना है क्या?

लिखना क्या है ?

यह शिक्षा के क्षेत्र का एक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण सवाल है कि आख़िर लिखना किसे कहा जाए? स्कूल में बच्चे बोर्ड से देखकर जो उतारते हैं, या किताब से देखते हुए कॉपी में लिखकर लाते हैं और शिक्षक को दिखाकर वैरी गुड या स्टार पाते हैं, क्या उसे लिखना कहा

जा सकता है? ऐसे वर्ण, शब्द या वाक्य, जिन्हें वे समझ नहीं सकते, बोल नहीं सकते (बार-बार लिखते-लिखते बोलने लगते हैं, जैसे– पतंग का 'प'), जिनका उनकी ज़िन्दगी या परिवेश से जुड़ाव नहीं है, जिनपर काम करते हुए वे आनन्द महसूस नहीं करते, पर वे उन वाक्यों या शब्दों को लिखते रहते हैं क्योंकि स्कूल में उन्हें लिखना सीखना है। कृष्ण कुमार अपनी किताब *बच्चे की भाषा और अध्यापक* में इस तरह के लेखन को यांत्रिक लेखन कहते हैं। इसमें बच्चे सिर्फ़ मशीन की तरह लिपि चिह्नों और शब्द प्रतीकों को लिखते रहते हैं। यांत्रिक लेखन की प्रक्रिया की यह संस्कृति धीरे-धीरे इतनी बढ़ जाती है कि समझना, महसूस करना, तर्क करना, बोलना और फिर समझकर लिखना कहीं दूर छूट जाता है। वे कहते हैं, "लिखना एक तरह की बातचीत ही है। लिखते वक़्त हम किसी से संवाद कर रहे होते हैं। हालाँकि प्रायः वह व्यक्ति (वस्तु या स्थान) हमारे सामने नहीं होता। यह अध्यापक पर निर्भर है कि बच्चे लिखने को सम्बोधन या किसी से कुछ कहने



की तरह ले पाते हैं या नहीं।"[1] वे आगे कहते हैं, "बच्चों को लिखना सिखाने की शुरुआत करने से पूर्व ये पक्का कर लीजिए कि बच्चे अपनी ज़िन्दगी और उसके आसपास हो रही चीज़ों के बारे में आत्मविश्वास से बात करने लगे हों।"[2]

यदि कृष्ण कुमार की बात की तरफ़ ध्यान दिया जाए तो यह बहुत स्पष्ट है कि पढ़ने-लिखने की शुरुआत तब की जानी चाहिए, जब बच्चे आत्मविश्वास के साथ आसपास की चीज़ों के बारे में बात करने लगे हों। अर्थात, पढ़ने-लिखने से पूर्व सुनने-बोलने की अवधारणा पर पर्याप्त काम किया जा चुका हो। बच्चों के साथ काम करते हुए मेरा यह विश्वास बना है कि बच्चे किसी भी वस्तु या व्यक्ति के बारे में जो सोचते हैं, वो बोलना या बताना चाहते हैं। किसी अन्य की उसी वस्तु के बारे में क्या राय है, ये सुनना भी चाहते हैं। अपनी बात बोलकर और किसी अन्य की सुनकर वे तुलना करने और दोनों बातों को मिलाकर एक नई समझ बनाने की दिशा में आगे बढ़ते हैं। इसके पर्याप्त अवसर मिल पाएँगे तभी उनका आत्मविश्वास बढ़ पाएगा और वे ख़ुद-ब-ख़ुद लिखने के लिए लालायित होंगे। कृष्ण कुमार अपनी किताब में कहते हैं, "जब बच्चे किसी काम की माँग करें तो यह उस बात का पक्का संकेत है कि वे उस काम को करना चाहते हैं। जब आप लिखने के शिक्षण का निर्णय लें तो सबसे पहले बच्चों से पूछें कि वे आपसे क्या लिखवाना चाहेंगे।"[3]

बच्चों के शुरुआती सीखने को देखें तो हम पाते हैं कि सुनना, फिर बोलना, इसके बाद पढ़ना और फिर लिखना, एक क्रमबद्ध अवधारणा है। अगर स्कूल और समाज के नज़रिए से देखें तो सुनने और बोलने को न तो अध्यापन की तरह ही देखा जाता है, न ही कक्षा में इसकी स्वीकार्यता होती है। वहीं दूसरी तरफ़, पढ़ने और लिखने को शिक्षक, समाज और व्यवस्था में मान्यता प्राप्त है। इसलिए न चाहते हुए भी शिक्षा की शुरुआत सुनने-बोलने से न होकर लिखने और पढ़ने की दिशा में आगे बढ़ जाती है और समझ विहीन यांत्रिक लेखन की संस्कृति बनने लगती है।

लिखने की यांत्रिक संस्कृति को बढ़ावा देते कुछ अनुभव

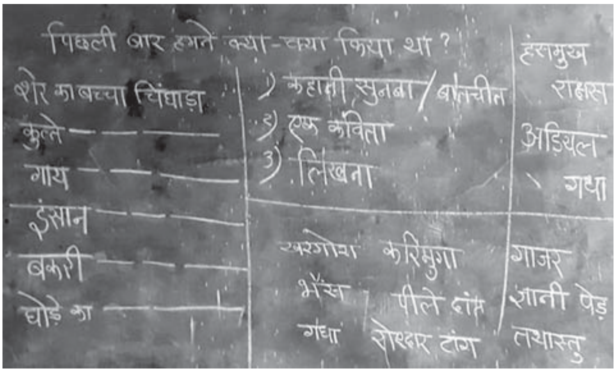
1. कहानी की किताबों पर काम के दौरान एक कक्षा में जब मैंने बच्चों से कहा कि चलो, गोले में बैठ जाओ, एक कहानी सुनाते हैं। बच्चे गोले में बैठ गए। अधिकांश बच्चे कॉपी-पेन लेकर बैठे थे। बहुत स्वाभाविक-सा सवाल है कि बच्चे कॉपी-पेन लेकर क्यों बैठे होंगे, उनके मन में क्या था, क्या बच्चों ने स्कूल में ये सीख लिया था कि हर गतिविधि के बाद लिखना ही है और सुनना एवं बोलना कम?

ठीक से सुनने, अपने अनुभव या बात बोलने, परिस्थितियों को समझने के बाद पढ़ने और लिखने की दिशा में आगे बढ़ना है, ये बात बच्चे आसानी से समझ सकते हैं यदि उनसे बात की जाए।

2. एक स्कूल में मैंने एक बच्चे की कॉपी देखी। उसकी कॉपी में कुल 32 पेज लिखे हुए थे जिसमें Yesterday, Tomorrow से शुरू होकर और भी मुश्किल शब्द लिखे गए थे। मैंने (We) दिखाते हुए उससे पूछा, "ये क्या लिखा है?" उसने कहा, "पढ़ नहीं सकता।" मेरा भरोसा है कि यदि लिखने के पूर्व नए शब्दों पर बातचीत, दैनिक जीवन में उपयोग होने वाले वाक्यों में इनका प्रयोग और फिर बाद में लिखने के अभ्यास होते तो सुनने, बोलने, पढ़ने और लिखने की अवधारणा साथ-साथ आगे बढ़ सकती थी।

3. एक अन्य स्कूल में कक्षा दूसरी के एक बच्चे की कॉपी में 'दक्षिण' लिखा था। मैंने पूछा, "किसने लिखवाया?" वह बोला, "मैंने ही लिखा, अपने-आप।" "कहाँ से?" सवाल के उत्तर में उसने दीवार में ऊपर लिखी दिशा की तरफ़ इशारा किया। मैंने कहा, "पढ़ो?" वह बोला, "लिखना आता है अभी।"

4. एक स्कूल में मैंने 'भालू ने खेली फ़ुटबॉल' कहानी सुनाई। कहानी सुनाने के बाद उसमें आए मुख्य शब्द, जैसे– किसान, शेर का बच्चा, फ़ुटबॉल, गोल-मटोल, जामुन का पेड़, सर्दी, आदि, बोलते और बच्चों से पूछते हुए बोर्ड पर लिख दिए। मैंने किसी भी बच्चे से नहीं कहा था कि बोर्ड पर लिखे शब्दों को कॉपी पर लिखना है। पर यह क्या? 23 में से 18 बच्चों ने कॉपी में शब्द लिख लिए थे और बाक़ी लिख रहे थे। उनमें से कुछ को शब्द पढ़ना आता था और कुछ को नहीं। पर सवाल था, जो नहीं आता, जिसे लिखने के लिए नहीं कहा गया, उसे लिखना क्यों? सम्भवतः स्कूल में आते-आते



बच्चे सीख गए हैं कि बोर्ड पर जो लिखा गया है वो तो लिखना ही है। बच्चों में दो-तीन वर्षों में लिखने की आदत इतनी पक्की हो जाती है कि शिक्षक द्वारा बोर्ड पर लिखा हुआ वे लिख ही लेते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में पढ़ना (लिखा हुआ बोलना) और समझना कहीं गुम हो जाते हैं।

5. अगली बार जब फिर इसी स्कूल में मेरा जाना हुआ तो पुनरावृत्ति के उद्देश्य से मैंने स्कूल बोर्ड पर लिखा, "पिछली बार हमने क्या-क्या किया था?" मेरा उद्देश्य था कि बच्चे लिखा हुआ पढ़ें, उसे समझें और हम सब मिलकर उसपर चर्चा करें (पाठ्यपुस्तक में दी गई दक्षता, सुनना, बोलना और पढ़ना-लिखना, का विकास हो पाए)। ठीक उसी समय स्कूल के शिक्षक साथी आए और बिना कुछ सोचे, बिना बोर्ड देखे उन्होंने बच्चों से कहा, "सर ने लिखा है न! तुम भी लिखो।"

बच्चों को रोककर मैंने सर को बताया कि हम क्या करने वाले हैं।

6. एक और स्कूल में पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों के साथ हमने ध्वनि पहचान के लिए सबके नाम में सुनाई देने वाली ध्वनि पर काम किया। आने से पहले बच्चों से मैंने, "मुझे याद रखोगे न!", कहकर, बोलते हुए बोर्ड पर अपना नाम लिख दिया। "हम कॉपी में आपका नाम लिख लेते हैं", कहते हुए बच्चों ने अपनी कॉपी में मेरा नाम लिख लिया। मैंने पूछा, "तुम्हारे घर कोई मेहमान आता है तो उसे याद रखने के लिए अपनी कॉपी में नाम लिखकर रखते हो क्या?" कक्षा में शान्ति थी। बच्चों ने कहा, "कॉपी में नहीं लिखते हैं" (रियल लाइफ़ में याद रखने के दूसरे तरीक़े हैं)। बच्चे मुझे वैसे भी याद रखते, पर सच ये है कि उनमें से ज़्यादातर स्कूल में लिखने की आदत के कारण नाम लिख रहे थे, नाम याद रखने के लिए नहीं।

यदि मैं बच्चों की कॉपियों के आधार पर कहूँ तो प्राथमिक कक्षाओं की शुरुआत में मुझे एक पैटर्न दिखाई देता है। जब बच्ची स्कूल आती है तो उसे वर्णमाला लिखना सिखाया जाता है। एक-एक अक्षर कई बार लिखवाया जाता है। इसे वह कई बार लिखती है। इसके बाद बारहखड़ी की बारी आती है और फिर सरल शब्द (बिना मात्रा वाले) लाइन में खड़े होते हैं। फिर अलग-अलग अक्षरों पर मात्रा लगाकर शब्द बनाना, उन्हें लिखना और पढ़ना सिखाया जाता है। ख़ास बात ये भी है कि जब तक बच्चा वर्णमाला नहीं सीख जाता, उससे बारहखड़ी लिखवाने की शुरुआत नहीं होती। यही क्रम बाक़ी अवधारणाओं में भी होता है। ये सीखते हुए बच्चों का आधा से एक साल गुज़र जाता है। बच्चे लिखना तो सीख जाते हैं, पर लिखकर पढ़ते हुए समझना कहीं छूट-सा जाता है और वे पढ़ने की बजाय कृत्रिम लिखने की दिशा में आगे बढ़ जाते हैं। इन्हीं दिनों में, बच्चों में समझ विहीन लिखने की मशीनी संस्कृति धीरे-धीरे पनप रही होती है।

लिखने की आदत को लेकर धारणाएँ

यदि शिक्षक के नज़रिए से देखा जाए तो लिखने के कई फ़ायदे हैं। जैसे– लिखते हुए बच्चे शोर कम करते हैं, बार-बार लिखने से लिपि चिह्न की पहचान हो जाती है, हैंड कंट्रोल होता है, लेखन सुन्दर होता है, ये सब लेखन प्रक्रिया में आगे की कक्षाओं में मदद करता है, आदि। यह सही भी है, लेकिन मन में सवाल उठते हैं कि क्या समझ के साथ, मज़ेदारी से लिखना और पढ़ना साथ-साथ सिखाया जा सकता है? क्या ज़्यादा अवधि तक लिखते हुए आधे से एक साल निकाल देना उचित है? बच्चा ये लिखते हुए लिखने के अलावा भी कुछ सीखता है क्या? क्या उसका आत्मविश्वास बढ़ता है? बिना अर्थ समझे यांत्रिक तरीक़े से लिखते रहना, क्या उसे स्कूल से जोड़े रखने और नियमित स्कूल आने के लिए प्रोत्साहित करता है? ख़ुद को अभिव्यक्त करना, तर्क करना, सोचकर जवाब देना, सवाल पूछना जैसे भाषा शिक्षण के अनिवार्य कौशलों को कब स्थान मिलेगा? इस प्राथमिक कक्षाओं (अवस्था या उम्र) में सुनने, बोलने और पढ़ने के जो कौशल सिखाए जाने चाहिए थे, वे कौशल क्या उसे आगे की कक्षाओं में सिखाए जाएँगे? सम्भवतः नहीं।

मुझे याद है, गाँव में पहली कक्षा में हम 31 बच्चे थे और 5वीं में सिर्फ़ 7 पहुँच पाए थे। हो सकता है कि हमारे कई साथी पहली कक्षा में सुनकर और बोलकर जो सीखना चाहिए था, नहीं सीख पाए और लिखने में ही रह गए व आगे नहीं बढ़ पाए (हमारे कई साथियों की राइटिंग आज भी बहुत अच्छी है)।

सार्थक लेखन के कुछ प्रयोगात्मक उदाहरण

1. उन दिनों जब मैं एक स्कूल में पढ़ाया करता था तो अकसर छुट्टी के समय शुरुआती बच्चों (पहली, दूसरी) की कॉपी में उनसे पूछकर कोई एक या दो शब्द लिख देता था जिसे वे अगले दिन लिखकर लाते थे। इन शब्दों में वर्ण, मात्रा कभी बाधा नहीं बने। बच्चे जो शब्द बोलते

थे उनमें मम्मी, छोटा भइयू, कुत्ता, रोटी, बिल्ली मौसी, बकरी, पिल्लू जैसे अनेक शब्द आते थे। एक दिन दूसरी कक्षा की एक बच्ची ने कहा, "लिखो, 'मेरे घर कब आओगे'।" मैंने लिख दिया। अगले दिन सबके साथ उसने भी उँगली रखकर पढ़ते हुए सुनाया। मैंने मुस्कुराते हुए कहा, "बिलकुल सही", और अगली कॉपी देखने लगा। थोड़ी देर बाद वो मेरे सामने खड़ी होकर आँखें दिखाते हुए बोली, "मेरे घर कब आओगे?" उसका लिखा हुआ एक आग्रह भी था और उसने कुछ सोचकर ही मुझसे ये लिखवाया था। ये बात मुझे देर से समझ आई थी। पर इस वाक़िए ने कृष्ण कुमार की बात, "जब बच्चे किसी काम की माँग करें तो यह उस बात का पक्का संकेत है कि वे उस काम को करना चाहते हैं। जब आप लिखने के शिक्षण का निर्णय लें तो सबसे पहले बच्चों से पूछें कि वे आपसे क्या लिखवाना चाहेंगे", को एकदम सार्थक और जीवन्त कर दिया था। यह वाक़िया पढ़ने और लिखने के कई पहलुओं को समझने में सहायक है। इस दौरान मैंने ये भी महसूस किया कि इस लेखन में शब्द बच्चों के परिवेश के थे इसलिए इन शब्दों के साथ उनका एक अपनापन भी था। दूसरी बात, 'जो हम कहते हैं उसे लिखा भी जा सकता है', इस बात पर भी उनका भरोसा बना था।

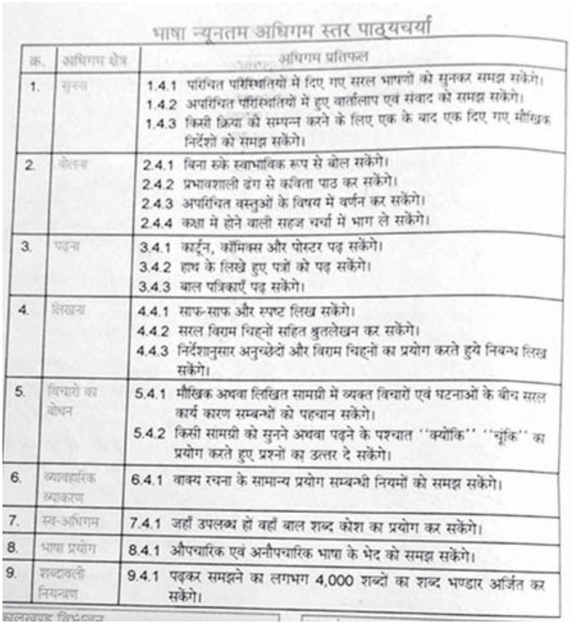
2. मैं जब एकलव्य के शिक्षा प्रोत्साहन केन्द्र में बच्चों को पढ़ाता था तब एक पहली कक्षा की बच्ची ने फ़ोन देखकर कहा था, "सर, मेरा फ़ोटो खींच दो न!" उस समय उसके पास कॉपी-पेन नहीं था। कक्षा के बाद जब वो घर जाने लगी तो मैंने एक पेज पर यही वाक्य लिखकर उसे दिया और कहा इसमें लिखा है, "सर, मेरा फ़ोटो खींच दो न!" वह ये पेज़ सँभालकर घर ले गई और अपनी बड़ी बहन से मेरे द्वारा लिखा वाक्य अपनी कॉपी में लिखवाया। सावी आज 12वीं पास कर चुकी है। वो कहती है, मैंने सबसे पहले यही वाक्य पढ़ना सीखा था।

3. खरगोन ज़िले के गोगवा ब्लॉक के एक स्कूल में कक्षा 5वीं के बच्चे 'हू तू तू' पाठ पढ़ रहे थे। इस पाठ में कबड्डी के कई नाम आए, जैसे– हू तू तू, हा डू डू, छू किट किट, आदि। पाठ ख़त्म होने के बाद मैंने यही नाम एक कार्डशीट पर लिखकर दीवार पर लगा दिए। साथ ही अलग-अलग राज्यों में कबड्डी के विभिन्न नामों पर चर्चा की। बाद में एक अन्य कक्षा की बालिका ने कहा, "मुझे ये नाम लिखना है।" हमने सलाह दी, "कॉपी में लिख लो।" उसने कहा, "मुझे याद भी रखना है, मैं कॉपी पर लिख लूँगी।" यह कहते हुए उसने अपनी सहेली से पेन लिया और अपनी हथेली में ये सब नाम लिखकर, पढ़कर (बोलकर) सुनाए।



एक सप्ताह बाद जब मेरा उस स्कूल में दोबारा जाना हुआ तो उसने चौथी-पाँचवीं कक्षा में जाकर कहा कि 'हा डू डू' वाले सर आए हैं। वो दीवार पर लिखा 'हा डू डू' पढ़ भी पा रही थी, और लिख भी। पर ये भी उतना ही सच है कि लिखने से पहले वह सुनने और बोलने के अवसरों से गुज़री थी। 'हा डू डू' उसके लिए अब किताब में लिखा शब्द न होकर बोलचाल का आम शब्द हो गया था। मेरा मानना है कि यही सही मायनों में सीखना है।

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर मैं यह बहुत पक्के से कह सकता हूँ कि बच्चों ने जो भी शब्द और वाक्य सीखे, उन सभी से बच्चों का बहुत नज़दीक से जुड़ाव था। वे उनके परिवेश से जुड़े शब्द थे और बच्चे उन्हें सीखना चाहते थे। इसमें मज़ा भी था और सीखने की ललक भी।



भाषा न्यूनतम अधिगम स्तर पाठ्यचर्या

क्र.	अधिगम क्षेत्र	अधिगम प्रतिफल
1.	सुनना	1.4.1 परिचित परिस्थितियों में दिए गए सरल भाषणों को सुनकर समझ सकेंगे। 1.4.2 अपरिचित परिस्थितियों में हुए वार्तालाप एवं संवाद को समझ सकेंगे। 1.4.3 किसी क्रिया को सम्पन्न करने के लिए एक के बाद एक दिए गए मौखिक निर्देशों को समझ सकेंगे।
2.	बोलना	2.4.1 बिना रुके स्वाभाविक रूप से बोल सकेंगे। 2.4.2 प्रभावशाली ढंग से कविता पाठ कर सकेंगे। 2.4.3 अपरिचित वस्तुओं के विषय में वर्णन कर सकेंगे। 2.4.4 कक्षा में होने वाली सहज चर्चा में भाग ले सकेंगे।
3.	पढ़ना	3.4.1 कार्टून, कॉमिक्स और पोस्टर पढ़ सकेंगे। 3.4.2 हाथ के लिखे हुए पत्रों को पढ़ सकेंगे। 3.4.3 बाल पत्रिकाएँ पढ़ सकेंगे।
4.	लिखना	4.4.1 साफ-साफ और स्पष्ट लिख सकेंगे। 4.4.2 सरल विराम चिह्नों सहित श्रुतलेखन कर सकेंगे। 4.4.3 निर्देशानुसार अनुच्छेदों और विराम चिह्नों का प्रयोग करते हुये निबन्ध लिख सकेंगे।
5.	विचारों का बोधन	5.4.1 मौखिक अथवा लिखित सामग्री में व्यक्त विचारों एवं घटनाओं के बीच सरल कार्य कारण सम्बन्धों को पहचान सकेंगे। 5.4.2 किसी सामग्री को सुनने अथवा पढ़ने के पश्चात ''क्योंकि'' ''चूंकि'' का प्रयोग करते हुए प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
6.	व्यावहारिक व्याकरण	6.4.1 वाक्य रचना के सामान्य प्रयोग सम्बन्धी नियमों को समझ सकेंगे।
7.	स्व-अधिगम	7.4.1 जहाँ उपलब्ध हों वहाँ बाल शब्द कोश का प्रयोग कर सकेंगे।
8.	भाषा प्रयोग	8.4.1 औपचारिक एवं अनौपचारिक भाषा के भेद को समझ सकेंगे।
9.	शब्दावली नियन्त्रण	9.4.1 पढ़कर समझने का लगभग 4,000 शब्दों का शब्द भण्डार अर्जित कर सकेंगे।

मैं अपने शिक्षक साथियों से चर्चा करता हूँ कि 'मोबाइल' और 'करतब' में से कौन-सा शब्द बच्चे ज़्यादा बोलते हैं। वह जो उनके परिवेश से जुड़ता है और आसानी से याद रखा जा सकता है? उत्तर हमेशा मोबाइल होता है। पर लिखने-पढ़ने की शुरुआत में मोबाइल और करतब में से पहले करतब आ जाता है। क्योंकि सुनना और बोलना (सुनने, बोलने से समझना और याद रखना विकसित होता है) अवधारणा पढ़ाई में न तो अपनी जगह बना पाई है न ही विश्वास। मेरा मानना है कि याद रखना भी पढ़ाई से जुड़ी एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है जो सुनते-बोलते-देखते हुए स्वयमेव ही विकसित होती रहती है।

अवधारणा और किताब

मध्यप्रदेश में पहली और दूसरी कक्षा में एनसीईआरटी और तीसरी, चौथी व पाँचवीं कक्षा में एससीईआरटी का पाठ्यक्रम चलन में है। दोनों ही पाठ्यक्रम इस ओर इशारा करते हैं कि कक्षा में सुनने, बोलने, पढ़ने और लिखने के कौशल अनिवार्य हैं। सुनने-बोलने व पढ़ने-लिखने को हर स्तर पर तवज्जो दी गई है। साथ ही यह अपेक्षा भी की गई है कि इस सफ़र से गुज़रते हुए बच्चे नए शब्दों का प्रयोग व किताब में वर्णित नए शब्द वे आम बातचीत में प्रयोग करेंगे तभी ये शब्द उनके लेखन में भी जगह बना पाएँगे। शिक्षक व बच्चों से अपेक्षा है कि जहाँ चौथी कक्षा में उनके पास 4,000 शब्दों का भण्डार होगा, वहीं पाँचवीं में उनका 5,000 शब्दावली पर नियंत्रण होगा। बच्चे कक्षा के हिसाब से पाठ पढ़ने और लिखने में तो आगे बढ़ते जाते हैं, पर उस कक्षा में और क्या-क्या सुनना चाहिए, कौन-से नए शब्द सीखने चाहिए, किसी मुद्दे पर कैसे बोलना चाहिए, इस मामले में आगे नहीं बढ़ते हैं। शायद इसीलिए 'गाय' के बारे में लिखते समय चौथी का बच्चा भी यही लिखता है, "गाय के चार पैर होते हैं", और सातवीं वाला भी कहता है, "गाय के चार पैर होते हैं"।

मेरा मानना है कि पढ़ने-लिखने के कौशल के साथ सुनने-बोलने के कौशल भी उसी गति से बढ़ते रहने की ज़रूरत है।

सन्दर्भ

1, 2 और 3, *बच्चे की भाषा और अध्यापक*, कृष्ण कुमार, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली

महेश झरबड़े पिछले 15 सालों से बच्चों व युवाओं के साथ शिक्षा सम्बन्धी कामों से जुड़े रहे हैं। एकलव्य के शिक्षा प्रोत्साहन केन्द्र और मुस्कान के जीवन शिक्षा पहल स्कूल में बच्चों व युवाओं के विभिन्न मुद्दों को शिक्षा के साथ जोड़कर देखने का प्रयास किया है। आदिवासी और वंचित तबक़ों के लिए किस तरह की शिक्षा हो, ये समझने का प्रयास जारी है। आपने सिनर्जी संस्थान, हरदा के साथ जुड़कर इस मुद्दे को गहराई से समझने की कोशिश भी की है। बच्चों, युवाओं व ग्रामीण विकास के मुद्दों पर पढ़ने और लिखने में रुचि है। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन मध्यप्रदेश के खरगोन ज़िले में कार्यरत हैं।

सम्पर्क : mjharbade@gmail.com

शिक्षक के पेशेवर विकास में सहायक है कक्षागत प्रक्रियाओं का दस्तावेज़ीकरण

कमलेश चंद्र जोशी

शिक्षक का पेशेवर विकास, शिक्षकों की तैयारी का एक अहम हिस्सा है। शिक्षकों की तैयारी कैसी हो, शिक्षकों के साथ कैसे और किन मुद्दों पर काम किया जाए, यह विचार करना महत्त्वपूर्ण है। लेखक बताते हैं कि शिक्षकों द्वारा अपने कक्षा अनुभवों को लिखना, और इस लिखने के ज़रिए अपनी कक्षा प्रक्रिया के बारे में, बच्चों के बारे में विश्लेषणात्मक रूप से सोच पाना उनकी शिक्षण प्रक्रिया को बेहतर करता है। वे शिक्षकों के एक छोटे समूह के साथ किए गए ऐसे ही एक प्रयास का विवरण इस लेख में प्रस्तुत करते हैं। -सं.

शिक्षक प्रशिक्षणों में किसी विषय पर चर्चा का सन्दर्भ बनाने के लिए अकसर शिक्षकों से कक्षा शिक्षण के अनुभवों को साझा करने को कहा जाता है। इस सवाल के रखते ही प्रशिक्षण कक्ष में सन्नाटा छा जाता है। बड़ी मुश्किलों से दो-चार प्रतिभागी कुछ-कुछ बातें बताते हैं, फिर यह स्वर उभरता है कि हम भी ऐसा ही करते हैं। शायद शिक्षकों के मन में कुछ हिचकिचाहट होती है अपनी बात रखने की या उन्हें लगता है कि कक्षा शिक्षण में जो वे कर रहे हैं, वह उपयुक्त नहीं है। एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि हमारी शिक्षण प्रक्रियाएँ अभी इतने परम्परागत ढंग से चल रही हैं कि इनमें बताने के लिए कुछ नहीं होता। बहरहाल, प्रशिक्षण में कक्षा अनुभव आने मुश्किल हो जाते हैं जिससे सत्र में आगे सन्दर्भ के साथ शिक्षकों के बीच चर्चा करना मुश्किल हो जाता है। इसके अलावा, कक्षागत प्रक्रियाओं की रिपोर्टें, डायरी, आदि कुछ शिक्षकों के पास ही मिल पाती हैं। लेकिन उससे भी कोई ख़ास मदद नहीं मिल पाती, क्योंकि इस डायरी में अकसर काम की योजना या फिर काम करने के चरण लिखे होते हैं। इसमें काम करते हुए आई चुनौतियाँ, सवाल, नई सीख, आदि दर्ज नहीं होते। इसका बड़ा कारण यह रहता है कि हमारी कार्य प्रणाली में इस तरह के अनुभव, रिफ़्लेक्शन दर्ज करने की कोई प्रणाली नहीं रही है और न ही शिक्षण कार्य को इतनी गम्भीरता से लिया जाता है।

शिक्षकों के समूह के साथ जुड़ाव

विगत डेढ़ वर्षों में चौबीस शिक्षकों के एक समूह में शिक्षक के पेशेवर विकास को ध्यान में रखकर ऑनलाइन व ऑफ़लाइन माध्यम से कार्य किया गया। इस कार्य में शिक्षकों को विविध तरह की सामग्री उपलब्ध करवाना, साप्ताहिक चर्चाएँ, स्कूल विज़िट, ऑफ़लाइन कार्यशालाएँ आदि प्रक्रियाएँ शामिल थीं। इसके केन्द्र में थे– शिक्षकों में शिक्षा व विषय के नज़रिए का विकास, अपने कक्षा शिक्षण को बेहतर बनाने का प्रयास, आदि।

संवाद की प्रक्रिया

कोविड के उपरान्त जब विद्यालय नियमित चलने लगे, तो शिक्षकों के बीच यह विचार बना कि अपनी कक्षाओं में शिक्षण योजना के साथ कार्य करें और उन अनुभवों को दर्ज करते

हुए रिपोर्ट बनाएँ, जिनपर समूह की साप्ताहिक बैठकों में चर्चा हो सके और हम अपने शिक्षण अभ्यास को और बेहतर बनाने का प्रयास कर सकें। अनुभव दर्ज करते हुए ऐसे कुछ बिन्दुओं का ध्यान रखें। मसलन, हम कक्षा में बच्चों का सक्रिय जुड़ाव बना पा रहे हैं या नहीं; बच्चों के साथ सार्थक चर्चा हो पा रही है या नहीं; गतिविधि आदि करवा पाते हैं कि नहीं; अपने शिक्षण कार्य की बेहतर योजना बना पाते हैं या नहीं; अपने शिक्षण अनुभवों को रिफ़्लेक्टिव ढंग से लिख पाते हैं कि नहीं; आदि। इस उपक्रम में योजना बनाने, उसके क्रियान्वयन और दस्तावेज़ीकरण की प्रक्रियाएँ शामिल थीं।



इस कार्य के लिए प्रारम्भिक भाषा व साक्षरता के मुद्दे को देखते हुए प्राथमिक स्तर के बच्चों के साथ किए जाने वाले काम की शिक्षण योजना बनाई गई। इस योजना में शिक्षक साथियों को यह आज़ादी थी कि वे अपनी कक्षा के बच्चों के सन्दर्भ को देखते हुए इसमें आवश्यक फेरबदल कर सकते थे। जो भी काम किया, उसके आधार पर रिपोर्ट साझा करनी होती थी और इसपर ऑनलाइन माध्यम से साप्ताहिक चर्चा की जाती। कुछ शिक्षकों ने अपने अनुभव, रिपोर्ट लिखी, कुछ ने वीडियो क्लिप भेजीं और कुछ ने बच्चों के बनाए हुए चित्र, कहानियाँ व कविताएँ। इन दर्ज अवलोकनों से शिक्षकों के साथ उनके अनुभवों के आधार पर संवाद सम्भव हुआ जो बच्चों के साथ स्थानीय सन्दर्भ में काम करते हुए उपजा था। वे अपने साथियों के काम के अनुभवों से भी बहुत कुछ सीख रहे थे।

कक्षा में स्कैफ़ोल्डिंग कैसे हो?

शुरुआत में शिक्षकों की रिपोर्टों में यह देखने को मिला कि वे कक्षा में शिक्षण योजना के साथ काम तो कर रहे थे, परन्तु योजना यांत्रिक ढंग से ही क्रियान्वित हो पा रही थी। यह समझ में आ रहा था कि साझा की गई सन्दर्भ सामग्री के मूल भाव को सही से नहीं समझा गया था। अधिकतर बातचीत प्रश्नोत्तर के ढर्रे पर ही हो रही थी, जबकि योजना में यह रेखांकित किया गया था कि दिए गए प्रश्न केवल मार्गदर्शन के लिए हैं। चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए बच्चों के उत्तरों पर ध्यान देने की ज़रूरत है। उनके आधार पर और नए प्रश्न पूछे जा सकते हैं और चर्चा को आगे बढ़ाया जा सकता है। यह बात भी उभर रही थी कि बच्चों के उत्तरों को कैसे आगे बढ़ाया जाए, इसकी समझ शिक्षकों में विकसित करने की ज़रूरत थी। यह मुद्दा स्कैफ़ोल्डिंग का था जिसे सीखे जाने की ज़रूरत महसूस होती है। उदाहरण के लिए, एक शिक्षक ने अपनी कक्षा में 'मेला' कविता पर काम करते हुए जो रिपोर्ट साझा की, उसका एक अंश यहाँ देखा जा सकता है :

"मेरे पास शिक्षण योजना के अनुसार कक्षा तीन के बच्चों के लिए चार्ट पर लिखी 'मेला' कविता थी। इसलिए कविता का सन्दर्भ जोड़ते हुए बच्चों से देखे हुए मेले के बारे में पूछा गया, तो उन्होंने स्थानीय 'झाड़ी के मन्दिर' के मेले के बारे में बताया। अपने अनुभव में बच्चों ने अपने माता-पिता, भाई-बहन, आदि के साथ मेला जाना बताया। कुछ बच्चों ने साइकिल से, कुछ ने मोटरसाइकिल से, तो किसी ने ट्रैक्टर

से मेला जाना बताया। मेले में उन्हें क्या अच्छा लगा, यह पूछने पर झूला, गुब्बारे, चाट, पकौड़ी आदि चीज़ें बच्चों ने बताईं। इसमें अमन का अवलोकन अच्छा लगा। उसने बताया कि मेले में हमारा नए लोगों से परिचय हुआ। उसने बताया कि मेले में बाहर से कुछ लोग आए थे। वे दूसरी बोली बोल रहे थे और उनका पहनावा भी अलग था। वे बन्दरों को केला खिला रहे थे।

कविता में आए शब्द पहचान के लिए बोर्ड पर लिखे गए। मेले में और क्या-क्या देखा? इसपर बच्चों ने खिलौनेवाला, जलेबी, जादू, गुड़िया, बढ़ई, कैलेंडरवाला, आदि के बारे में बताया। इसमें राजा ने बताया कि मेले में किताबें भी बिक रही थीं। 'मेले में आप लोगों ने क्या-क्या ख़रीदा?' इसपर बच्चों ने गुब्बारे, बाँसुरी, आइसक्रीम, चाउमिन, खिलौने, गेंद, बल्ला आदि ख़रीदना बताया।

'मेला लगना क्यों ज़रूरी है?', इसपर हुई बातचीत में राजा ने बताया कि ये हमारी परम्परा है। समर बोला, 'हमें आनन्द आता है।' शशि बोली, 'हम लोगों को काम करते देखते हैं तो उससे हम भी सीखते हैं।'

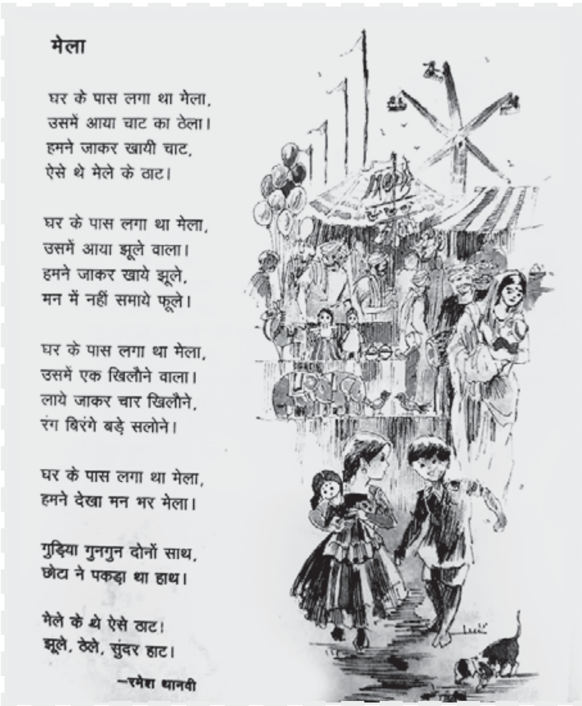
'मेले में आप लोगों को कौन-कौन-से काम करते देखते हैं?', पूछने पर बच्चों ने झूला चलाना, गुब्बारे फुलाना, जलेबी बनाना, नाटक करना, आदि के बारे में बताया।

इसके बाद मेले की तरह कुछ अन्य शब्द लिखने का बोलने पर बच्चों ने ठेला, केला, रेला, चेला, ढेला, खेला आदि शब्द बताए। इसी तरह चाट की तरह खाट, बाट, लाट, पाट जैसे कुछ शब्द बताए और अपनी-अपनी कॉपियों पर लिखे।

'मेले में क्या सस्ता और क्या महँगा था?' इसपर बच्चों ने बताया कि छोटे खिलौने 5 रुपए के थे और बड़े 20 रुपए के।

गणितीय जानकारी के लिए बच्चों से पूछा गया, 'मेले में कितनी दुकानें होंगी?' बच्चों ने बताया कि गिना नहीं था। अन्दाज़े से किसी ने 100 बताया, किसी ने 200 तो किसी ने 50 कहा।

'इस कविता का अन्य नाम क्या हो सकता है?' इसपर कुछ बच्चे चुप थे। शायद यह सोच पाना उनके लिए चुनौती था। फिर भी एक बच्चे ने 'झाड़ी के मन्दिर का मेला' कहा। 'इस कविता को पढ़ व सुनकर क्या समझ आया?' इसपर आठ बच्चों ने स्वतंत्र विचार लिखे। अन्य



ने बोर्ड से शब्दों को पहचान कर लिखा। इसमें मुझे सबसे अच्छी बात यह लगी कि बच्चे अपनी लिखित अभिव्यक्ति भी दे रहे थे।"

शिक्षकों से इस रिपोर्ट पर हुई चर्चा में यह बात उभारी गई कि इससे कक्षा में हुए काम का पता चलता है। जैसे, कक्षा में सभी बच्चे जुड़े हुए थे और अपने अनुभव रख रहे थे; इसमें अमन जैसे कुछ बच्चों के अवलोकनों को भी

दर्ज किया गया है और भाषा के सभी कौशलों पर कार्य किया गया है; इसमें गणित को भी जोड़ने का प्रयास किया गया है जो अच्छा है; आदि। इसमें चर्चा के दौरान बच्चों से एक प्रश्न और पूछा जा सकता था कि तुम मेले से जुड़ा अपना कोई अनुभव बताओ। और यह बात भी हो सकती थी कि मेले पर कोई और कविता या कहानी पढ़ी हो तो उसके बारे में बताओ। मसलन, एक शिक्षिका की कक्षा में बच्चे इस कविता पर बात करते हुए पुस्तकालय से मेले से जुड़ी एक किताब निकालकर ले आए थे। इससे बच्चों को अपने अनुभव जोड़ने का और मौक़ा मिलता व पढ़ी हुई कविता की समझ और समृद्ध होती।

पाठ्य सामग्री के नज़रिए को समझना

समूह की एक शिक्षिका ने लेव तोलस्तोय की एक बाल कहानी 'गुठली' पर चौथी-पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ शिक्षण कार्य किया। यह कहानी तोलस्तोय द्वारा लिखित रूसी कहानी का हिन्दी रूपान्तरण है। इसमें बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को दर्शाया गया है जिसमें महेश नामक बच्चे द्वारा घर में रखे हुए आलूबुख़ारों में से चुपके से आलूबुख़ारे खाने की घटना को आधार बनाया गया है। कहानी का यह अनुभव बालमन की सहज प्रवृत्ति को दर्शाता है। कुल मिलाकर, कहानी बच्चों के जीवन का स्पन्दन है और साहित्यिकता लिए हुए है।

इस कहानी पर काम करते हुए एक शिक्षिका ने अपनी रिपोर्ट लिखकर समूह में साझा की। उस रिपोर्ट का एक अंश यहाँ प्रस्तुत है। इससे पता चलता है कि शिक्षिका ने इस कहानी को किस नज़रिए से देखा :

"...कहानी पूरी होते-होते कक्षा का वातावरण बहुत सहज हो चुका था जोकि एक अच्छी कक्षा की निशानी होती है। बच्चे बड़े सहज भाव से अपने क़िस्से सुना रहे थे और अपनी की हुई, देखी हुई, चोरी की घटनाओं के बारे में बता रहे थे। हैदर ने बताया, 'एक दिन मेरे भैया और मैंने गुड़ चुराकर खाया था लेकिन अम्मी को पता ही नहीं चला।' निदा ने बताया, 'एक दिन मैंने अपने भैया के बैग से इमली चुराकर खाई थी।' सागर ने बताया, 'मैंने और मेरे दोस्त ने एक दिन बाज़ार में ठेले से लीची चुराकर खाई थी।' शान ने बताया, 'एक दिन अब्बा आम लाए थे तो मैंने चोरी करके अपने हिस्से के आम खाए थे।' यहाँ पर मैंने बच्चों को बताया कि चोरी करना ग़लत बात होती है। किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो उसे पूछकर भी लिया जा सकता है।"









इसपर समूह में यह चर्चा की गई कि शिक्षिका ने बच्चों के अनुभवों पर अच्छी चर्चा की लेकिन इसमें ऐसा भी लगा कि कहानी का उद्देश्य सिर्फ़ यह है कि चोरी करना अच्छी बात नहीं है। जबकि यह कहानी बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति को दिखा रही है और बच्चों को अपने अनुभवों पर सहज ढंग से विचार करने का मौक़ा दे रही है। हमने *बरखा* सीरीज़ की *पका आम* कहानी या नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और वल्लीकानन द्वारा लिखित *बस की सैर* या प्रेमचंद की कहानी 'नादान दोस्त' को पढ़ा होगा। इनमें बच्चे कुछ काम बिना बताए अपने मन से करते हैं। हमें इस कहानी को इसी दृष्टि से देखने की ज़रूरत है।

अपने शिक्षण पर समीक्षात्मक चिन्तन

सोहनलाल द्विवेदी की कविता 'जी होता चिड़िया बन जाऊँ' पर चौथी-पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ कुछ शिक्षकों ने काम किया। इस कविता में स्वतंत्रता के महत्त्व को दर्शाया गया है। यहाँ इस कविता पर हुई बातचीत पर दो शिक्षकों की रिपोर्टों के अंश दिए जा रहे हैं। इनको देखकर पता चलता है कि दो शिक्षक एक ही कविता पर अपनी कक्षा में अलग-अलग ढंग से बात कर रहे हैं और उनकी शिक्षण प्रक्रिया समझ में आ रही है :

"कविता को बोर्ड पर लिखा यह पूरे सप्ताह लिखा रहेगा। बच्चों द्वारा क़रीब चार-पाँच बार दोहराया गया। हर लाइन पर बच्चों की समझ बनी और बच्चों ने भी दोहराया।

मैंने अनुभव किया कि इस कविता के विषय में बच्चों को अच्छा-ख़ासा पूर्वज्ञान है।

'आपके आसपास कौन-कौन-से पक्षी रहते हैं?'

बच्चों ने छह पक्षियों के नाम बताए– 'कौआ, तोता, मैना, कबूतर, चील, तीतर।'

'इनका रंग कैसा होता है?'

बच्चे बता पाए।

'इनकी चोंच कैसी होती है?'

बच्चों ने बताया कि तोते की लाल होती है, चील की चोंच बहुत तीखी, कबूतर की छोटी और कौवे की काली लेकिन बहुत तेज़ होती है।

'ये क्या खाते हैं?'

बच्चे : 'कबूतर गेहूँ खाता है, कौआ रोटी और चावल भी खाता है। चील चूहे खाती है और तोता मिर्ची खाता है।'

'ये रहते कहाँ हैं?'

बच्चे : 'कबूतर घर पर गन्ने की पत्ती से घोंसला बनाता है और चिड़िया तिनकों से पेड़ पर घोंसला बनाती है।'

‘चिड़ियों को देखकर आपको कैसा महसूस होता है?’

बच्चे : ‘जी, बहुत अच्छा!’

‘अगर तुम चिड़िया होते तो कहाँ-कहाँ की सैर करते?’

बच्चे : ‘पहाड़ों, मैदानों, घाटी, किसी के भी घर, गाड़ी पर बैठते, खेतों और नदियों की सैर करते।’

एक बच्चे (अंश) ने कहा : ‘मैं तो पूरे देश की सैर करता।’

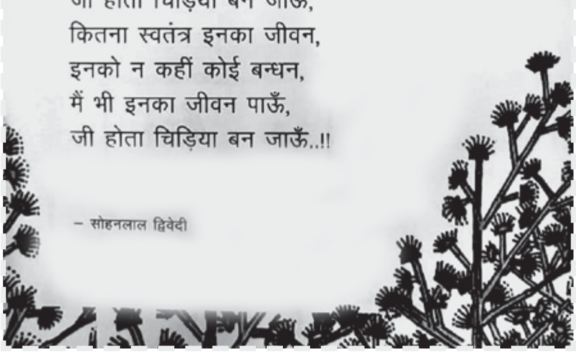
‘कुछ लोग चिड़िया को पिंजरे में क़ैद रखते हैं, तुम इसके बारे में क्या सोचते हो?’

जी होता चिड़िया बन जाऊँ



जी होता चिड़िया बन जाऊँ,
मैं नभ में उड़कर सुख पाऊँ,
मैं फुदक-फुदककर डाली पर,
डोलूँ तरु की हरियाली पर,
फिर कुतर-कुतरकर फल खाऊँ,
जी होता चिड़िया बन जाऊँ,
कितना अच्छा इनका जीवन,
आज़ाद सदा इनका तन-मन,
मैं भी इन-सा गाना गाऊँ,
जी होता चिड़िया बन जाऊँ,
जंगल-जंगल में उड़ विचरूँ,
पर्वत घाटी की सैर करूँ,
सब जग को देखूँ इठलाऊँ,
जी होता चिड़िया बन जाऊँ,
कितना स्वतंत्र इनका जीवन,
इनको न कहीं कोई बन्धन,
मैं भी इनका जीवन पाऊँ,
जी होता चिड़िया बन जाऊँ..!!

– सोहनलाल द्विवेदी



ख़ुशी : ‘बहुत सारे लोग चिड़िया को पिंजरे में रखते हैं। हमको ये देखकर बहुत बुरा लगता है। चिड़ियों को आज़ादी चाहिए, वो आसमान में रहती हैं तो एक पिंजरे में क़ैद कैसे रह पाएँगी!’

इस बारे में सभी बच्चों की एक राय थी कि हमको बुरा लगता है, और वो आज़ाद रहनी चाहिए।

‘आज़ादी का क्या मतलब है?’

बच्चे : ‘हम कहीं भी जा सकते हों, घूम सकते हों, कोई रोकने वाला न हो।’

बच्चों से चिड़िया पर कविता भी लिखवाई जो बच्चे लिखकर लाए।”

समूह के दूसरे शिक्षक की इसी कविता पर लिखी रिपोर्ट का एक और अंश यहाँ देखा जा सकता है :

“इशिका बहुत उत्साहित है। वह चाह रही है कि कल वाली बहस (क्या चिड़ियों को पिंजरे में बन्द करना सही है?) आगे बढ़े। उसका कोई परिणाम निकले, और अन्तिम निर्णय मैं (शिक्षक) करूँ। सायना भी कह रही है कि कल बहुत मज़ा आया। अन्य बच्चे भी ख़ुश हैं। इससे पता चलता है कि जब बच्चे विषयवस्तु से अच्छी तरह जुड़ जाते हैं तो उन्हें पढ़ाई में मज़ा आने लगता है। कल वाली बहस आगे बढ़ाने से पहले मुझे यह ज़रूरी लगा कि मैं इस प्रश्न पर बात करूँ कि क्या हम लोग स्वतंत्र हैं? अगर ‘हाँ’ तो क्यों और अगर ‘नहीं’ तो क्यों नहीं? इसपर अच्छी बातचीत हुई। चर्चा में लड़कियाँ ही ज़्यादा बोलीं और लड़के कम। इशिका ने कहा, ‘लड़कों को आज़ादी है, लड़कियों को कम आज़ादी है।’ अनुज ने कहा, ‘हमें आधी आज़ादी है, पूरी नहीं।’ पूरी आज़ादी क्यों नहीं है, इसपर उसने कुछ तर्क भी दिए। सायना ने कहा, ‘हमें नहीं लगता कि हमें आज़ादी है। केवल स्कूल



पैसा कमाने वाली बात पर और चर्चा की जानी चाहिए। हुमुल का इशारा था कि पुरुषों को ज़्यादा आज़ादी इसलिए है क्योंकि वे पैसा कमाते हैं। अनुज की भी बात पर चर्चा करना ज़रूरी है कि आधी आज़ादी क्या है और पूरी आज़ादी क्या? मुझे यह भी लग रहा है कि बच्चे अभी लिखने का काम कम कर पा रहे हैं। कुछ बच्चे ही हैं जो थोड़ा-बहुत लिखने की कोशिश करते हैं। कुल मिलाकर, आज का काम बढ़िया रहा।"

आने की आज़ादी है, फिर घर में घुस जाओ, झाड़ू लगाओ, बर्तन माँजो, खाना बनाओ। हमें उतनी आज़ादी नहीं है, जितनी लड़कों को है।' मुझे चर्चा आगे बढ़ाने का बढ़िया मौक़ा मिल गया। लड़कियाँ ख़ूब बोलीं कि कैसे उन्हें हर बात के लिए रोक दिया जाता है और उन्हें घर का काम ज़्यादा करना होता है। वे महसूस कर रही हैं कि उन्हें कम आज़ादी है और उन्हें ज़्यादा आज़ादी मिलनी चाहिए। आज़ाद रहना अच्छा लगता है। कोई मन का नहीं करने देता है तो बहुत बुरा लगता है। इशिका और सायना जैसी लड़कियाँ चाह रही थीं कि इसपर कल जैसी बहस हो। अब कल वाली बहस का निर्णय करना था। निर्णय तो लगभग हो ही चुका था कि आज़ादी सबको अच्छी लगती है। फिर भी मैंने चार-पाँच मिनट का एक वक्तव्य दिया। अब सभी बच्चे इस बात से सहमत दिखे कि चिड़ियों को पिंजरे में बन्द करना ठीक नहीं है। मुझे ऐसा लगा कि आज़ादी वाली और

इन रिपोर्टों पर शिक्षक साथियों के साथ समूह चर्चा में यह बातें उभरकर आईं कि बच्चों ने अपने आसपास के अवलोकन अच्छे-से बताए हैं। इससे पता चलता है कि बच्चे अपने आसपास के परिवेश को अच्छे-से समझते हैं। आज़ादी की बात भी उभरी है, पर इस चर्चा को बहुत आगे नहीं बढ़ाया गया। यह कमी लगती है। इसपर आगे ध्यान दिया जा सकता है।

दूसरी रिपोर्ट के अंश से पता चल रहा है कि कविता पर चर्चा में बच्चे गहराई से जुड़े हैं और अपने तर्क भी रख रहे हैं। इससे पता चल रहा है कि बच्चे अपने आसपास के परिवेश के प्रति सजग हैं। यहाँ पर थोड़ा लग रहा है कि अनुज ने आधी आज़ादी पर क्या तर्क दिया, यह उभरकर नहीं आया। साथ ही शिक्षक ने अपना क्या वक्तव्य दिया, वह भी इसमें नहीं आया। अगर इसे भी लिख देंगे तब बात मुक़म्मल तरीक़े से आ जाएगी। इस रिपोर्ट की ख़ास बात यह भी है कि शिक्षक को अन्त में महसूस हुआ कि मुद्दों पर और चर्चा का मौक़ा दिया जाना चाहिए जो नहीं हो पाया। यह बात भी एक चिन्तनशील शिक्षक के

लिए ज़रूरी है जो चर्चा में उभरकर आई। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने दूसरे साथियों के अनुभवों को पढ़कर हम अपने शिक्षण को और बेहतर बना सकते हैं।

निष्कर्ष

शिक्षकों के शिक्षण कार्य व इन रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि कक्षा की प्रक्रियाओं में बच्चों की प्रतिभागिता कैसी रही, बच्चों को सोचने के मौक़े दिए गए या नहीं, और कक्षा शिक्षण समझ पर आधारित है या केवल बता देने वाला है। सबसे अच्छा यह रहा कि इन मुद्दों पर शिक्षकों के साथ बातचीत का मौक़ा मिला और उन्हें अपने शिक्षण को समीक्षात्मक ढंग से देखने की दृष्टि मिली। इसके अलावा, किसी पाठ्य सामग्री पर अच्छी शिक्षण योजनाएँ कैसे बनें, उनमें किस तरह के सवाल व गतिविधियाँ हों, इसपर भी समझ बनी। इस तरह की समझ व शिक्षण दृष्टि हर शिक्षक के लिए ज़रूरी है और यह शिक्षक के पेशेवर विकास के लिए सबसे अधिक आवश्यक है।

इस आलेख में नरेश चन्द्र, मीनाक्षी आर्या, किरनपाल और धर्मपाल गंगवार की कक्षा शिक्षण की रिपोर्टों के कुछ अंशों का इस्तेमाल किया गया है। उनके प्रति आभार।

कमलेश चंद्र जोशी प्राथमिक शिक्षा से लम्बे समय से जुड़े हुए हैं। प्राथमिक शिक्षा से जुड़े विभिन्न विषयों– शिक्षक शिक्षा, बाल साहित्य, प्रारम्भिक भाषा एवं साक्षरता आदि में गहरी रुचि। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, ऊधम सिंह नगर में कार्यरत।

सम्पर्क : kamlesh@azimpremjifoundation.org

मातृभाषा और पढ़ने–लिखने की भाषा का द्वन्द्व

मुकेश मालवीय

पाठ्यपुस्तक के उद्देश्यों को देखते हैं तो बच्चों के साथ स्कूल की भाषा पर काम करना ज़रूरी है। लेकिन भाषा शिक्षण के व्यापक उद्देश्यों के नज़रिए से देखने पर महसूस होता है कि कक्षा की लक्षित भाषा में शिक्षण प्रभावी हो पाए इसके लिए बच्चों की मातृभाषा को कक्षा में पर्याप्त जगह देना भी ज़रूरी महसूस होता है। लेखक पढ़ने, लिखने, विचार करने और सीखने में मातृभाषा की भूमिका की अहमियत पर अपने विचार रखते हैं। वे बताते हैं कि मातृभाषा में विकसित विभिन्न भाषाई क्षमताएँ लक्षित भाषा सीखने में मददगार होती हैं। मातृभाषा में सीखना, मातृभाषा की मदद से सीखना, सीखने को अर्थपूर्ण बनाता है। –सं.

शिक्षा के नए नीतिगत दस्तावेज़ों (*राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020* और *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : फ़ाउंडेशनल स्टेज 2022*) में बच्चों की मातृभाषा के प्रति बहुत सम्मान ज़ाहिर किया गया है। इसमें बच्चों की मातृभाषा को आधार और माध्यम बनाकर ही शुरुआती शिक्षा और पढ़ना-लिखना सिखाने की बात कही गई है। यह बात नई नहीं है। बच्चों की शिक्षा में उनकी मातृभाषा की अहमियत बहुत पहले पहचानी जा चुकी थी और काफ़ी समय से शुरुआती शिक्षा में इसके इस्तेमाल की वकालत की जाती रही है। क्या अब बच्चों की मातृभाषा प्रारम्भिक शिक्षा में कुछ नई भूमिका में आने वाली है? यह भूमिका क्या होगी? दस्तावेज़ में इस सन्दर्भ में बहुत लुभावनी और सबको पसन्द आने वाली बातें लिखी हैं। मसलन *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : फ़ाउण्डेशनल स्टेज* के अध्याय 3 में कुछ ऐसा लिखा है :

भाषा शिक्षा के बारे में *एनईपी 2020* पर आधारित *एनसीएफ़* के दृष्टिकोण के पीछे के मुख्य सिद्धान्त :

1. बच्चे 0 से 8 वर्ष की उम्र के बीच मौखिक भाषा बहुत तेज़ी से सीखते हैं।
2. बहुभाषिकता में विकसित की जाने वाली मुख्य क्षमताओं में से एक है।

लेकिन इन बातों का क्रियात्मक स्वरूप कैसा हो, इसपर भी हमारे पास आमतौर पर समझ व अनुभव की कमी है। आम शिक्षकीय समझ में प्रारम्भिक स्तर पर भाषा की शिक्षा का मतलब बच्चों को एक भाषा (हिन्दी) की लिपि से परिचित कराना और इसके बाद लिपि से पढ़ने-लिखने का हुनर सिखाना है, और इसमें शुद्ध भाषा पर ज़ोर दिया जाता है। यह समझ है कि पढ़ने की तकनीक सीख जाने के काफ़ी बाद बच्चे उस पढ़े हुए का अर्थ समझने की प्रक्रिया से गुज़रते हैं। यह प्रक्रिया प्रश्न-उत्तर आधारित ही होती है और शिक्षक के बताए अनुसार चलती है। इसमें बच्चे को स्वतः समझने के प्रयास का मौक़ा नहीं होता व यह अपेक्षा नहीं होती कि वह बग़ैर मदद के ख़ुद पढ़कर समझने का प्रयास भी कर सकता है।

पढ़ना व भाषा सीखने के प्रयास

आगे इसमें भाषा के विन्यास (व्याकरण) की जानकारियाँ आ जाती हैं जिनमें परिभाषाओं को



फ़ोटो : मुकेश मालवीय

याद कराने में ऊर्जा लगती है। बच्चों को शुद्ध और सही भाषा सिखाने के लिए पाठ्यपुस्तक ही एकमात्र सहारा मानी जाती है।

ऐसी परिस्थितियों में बच्चे की मातृभाषा की क्या भूमिका हम देख पाएँगे? यहाँ बच्चे की सोच की, उसके प्रयास व अनुभव की कोई जगह ही नहीं है। ज़रूरी यह है कि भाषा शिक्षा में मौखिक भाषा में संवाद की प्रक्रिया पहले अपना स्थान बनाए, तब ही यह सुझाव या बहस हो सकती है कि यह संवाद बच्चों की घर की भाषा में होगा या स्कूल की भाषा में।

बच्चे की घर की भाषा और स्कूल की भाषा में मेलजोल कैसे हो सकता है, इसके कुछ अनुभव मेरे पास हैं। मैं बीस से अधिक वर्षों तक आदिवासी गोण्ड जनजाति के बच्चों के साथ एक सरकारी स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा की सीखने-सिखाने की गतिविधियों में संलग्न रहा हूँ। सरकारी स्कूल के शिक्षक की भूमिका में मुझे इन वर्षों में भाषा शिक्षण की एक अप्रोच को समझने का मौक़ा मिला। यह अप्रोच परम्परागत भाषा शिक्षण से थोड़ी अलग और प्रगतिशील थी। इस अप्रोच से सम्बन्धित शिक्षण के अनुभव भाषा की समझ के जानकार प्रो रमाकांत अग्निहोत्री के साथ मेरे स्कूल में चल रहे एक नवाचार कार्यक्रम 'प्राशिका' के दौरान मुझे हो रहे थे।

इस कार्यक्रम के दौरान जो शिक्षक प्रशिक्षण हुए, उनमें हमने भाषा को बरतने, जानने और बच्चों के साथ इसे लिखित और मौखिक रूप में सहजता (जैसे बोलचाल में आ रहा है वैसे ही) के साथ इस्तेमाल करने की समझ को आत्मसात किया। इस दौरान भाषा की समझ को लेकर हम थोड़ा ज़्यादा उदार बन पाए। हमने भाषा को इस तरह से भी जाना कि भाषा मूल रूप से मौखिक स्वरूप में होती है, और इस रूप में हमेशा अपने आसपास की भाषा के शब्दों को अपने में समाहित कर लेती है। यह बेहद स्वाभाविक प्रक्रिया है और इससे कोई भाषा अशुद्ध नहीं होती। अगर दो बच्चों या बड़ों के पास अलग-अलग भाषाएँ हैं और उनके पास इस तरह की परिस्थिति या आवश्यकता निर्मित हुई कि उन्हें एक दूसरे को अपनी बात समझानी है, तब वे एक दूसरे को अपनी-अपनी बात भाषा के ज़रिए समझा पाते हैं। स्कूल में भी दो अलग-अलग भाषा बोलने वाले बच्चों के बीच संवाद

होता है, परन्तु शिक्षक और बच्चों के बीच एक दूसरे की भाषा का अजनबीपन पहाड़ बनकर खड़ा हो जाता है। इसके एक तरफ़ बच्चे होते हैं और दूसरी तरफ़ शिक्षक व पाठ्यपुस्तकें। इस अजनबीपन में दोस्ती का हाथ कौन बढ़ाएगा?

उन दिनों मैंने भाषा के बारे में यह भी समझा कि बच्चे और बड़े अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन विचार, भाषा के ज़रिए केवल व्यक्त ही नहीं होते, बल्कि भाषा से बनते भी हैं। इसलिए जो व्यक्ति जितना अधिक किसी भाषा का सक्रिय इस्तेमाल सुनने, बोलने, पढ़ने, व लिखने में करता है, उसका भाषाई कौशल उतना अधिक विकसित होता जाता है।

मेरे स्कूल के सन्दर्भ में, बच्चों के लिए 'स्कूल' वह जगह थी जहाँ उनके शिक्षक के पास और पाठ्यपुस्तक में एक अलग भाषा थी पर यह अपरिचित नहीं थी। यह भाषा बच्चे को स्कूल आने के पहले भी कभी-कभी बाज़ार में या अन्य लोगों से सुनने को मिलती रही थी। स्कूल में भी उनके कुछ साथी इस भाषा से थोड़े परिचित थे। मैंने समझा कि ऐसे बच्चे जो अपने घर-पड़ोस में एक अलग भाषा बोलते हैं, वे स्कूल की पढ़ने-लिखने की भाषा को अपनी समझ या विचार के स्तर पर लाने के लिए उससे लगातार जूझते हैं और जल्द ही उस भाषा के ढाँचे को पकड़ लेते हैं। बशर्ते कोई उन्हें इस भाषा का इस्तेमाल करने की वैसी ही आज़ादी दे, जैसी कि उन्हें मातृभाषा सीखते समय मिली थी। तब अपनी बात को कहने की ज़रूरतों के लिए भाषा प्रयोग करना उन्होंने सीखा था। उन्हें इस स्कूली भाषा के इस्तेमाल की भी वास्तविक ज़रूरत महसूस होना ज़रूरी है। स्कूल की भाषा जितनी सघनता में उन्हें देखने-सुनने और इस्तेमाल करने के मौक़े देती है, उतनी ही जल्दी यह बच्चों के लिए आधिकारिक और सहज हो जाती है। मैंने यह भी समझा कि भाषा पर बच्चों का अधिकार और आत्मविश्वास प्राथमिक शिक्षा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह मानकर, कि बच्चों के पास भाषा इस्तेमाल करने का नैसर्गिक कौशल है, मैंने अपने स्कूल में मौखिक भाषा के इस्तेमाल की कई सारी गतिविधियाँ बनाईं।

पर ज़्यादातर स्कूल बच्चों के लिए ऐसे मौक़े नहीं बना पाते जहाँ बच्चे भाषा इस्तेमाल करने के अपने नैसर्गिक कौशल को बेहतर कर पाएँ। स्कूल में बच्चों के लिए शिक्षक के साथ वार्तालाप केवल शिक्षक के प्रश्नों के 'हाँ' या 'नहीं' में जवाब देने या एक-आध वाक्य तक ही सीमित होता है। बच्चों की समझ और कल्पनाओं की अभिव्यक्ति उत्पन्न करने वाले ऐसे वार्तालाप, जिनमें बच्चों के अपने अनुभव व्यक्त हों, बहुत कम ही होते हैं।



फ़ोटो : मुकेश मालवीय

बच्चा जो भाषा घर-परिवार से सीखकर आता है, उस भाषा के प्रयोग की, अभिव्यक्ति की माँग स्कूल में किया जाना निहायत ज़रूरी है। यही घरेलू भाषा, किताबी भाषा को समझने और बोलने में एक सेतु, सहारा और ज़रिया बनाती है, क्योंकि किसी भी एक भाषा को जानने वाले में दूसरी

भाषा के ढाँचे को पकड़ लेने का गुण मौजूद होता ही है। मैं अपनी बात को एक बार फिर दोहराता हूँ कि किसी भी एक भाषा को जानने वाले के पास किसी दूसरी भाषा के कहन के ढाँचों को सहज ही समझ लेने का और थोड़े प्रयास से ही उन ढाँचों को इस्तेमाल करने का साहस आ जाता है। हाँ, उस नई भाषा के शब्द ज़रूर धीरे-धीरे आएँगे, पर ढाँचा जल्दी पकड़ने आता है।

इस बात के समर्थन में हम गोण्डी भाषा के कुछ वाक्यों को लेकर इसके नियमों को समझने की कोशिश करते हैं। जैसे–

ट्यूडा कलेवा तिंतोना। (लड़का खाना खाता है।)

ट्यूडी कलेवा तिंतोना। (लड़की खाना खाती है।)

इन वाक्यों को मैं हिन्दी में समझकर कुछ नए वाक्य आवश्यकता अनुसार बोल सकता हूँ।

जैसे– राम कलेवा तिंतोना या मीना खाना तिंतोना। ट्यूडा मध्याह्न भोजन तिंतोना।

अगर बोलचाल के प्रयास से मैं गोण्डी के कुछ वाक्य, ढाँचे और शब्द समझ लेता हूँ तो मैं हिन्दी मिश्रित ढाँचे और शब्दों के ज़रिए अपनी अभिव्यक्ति कर पाऊँगा।

दूसरी ओर, मुझे अगर इस वहम को तोड़ना है कि गोण्डी भाषा पिछड़ी, अशुद्ध और ग़रीब है क्योंकि इस भाषा की लिपि और व्याकरण नहीं है, तो मैं इन तीन-चार वाक्यों के विश्लेषण से अपना मत बदल सकता हूँ।

राम कलेवा तिंनतोड। (राम खाना खाता है।)

राम कलेवा तिंजेतुर। (राम ने खाना खाया।)

अन्ना नेंदे हंतोना। (मैं खेत जा रहा हूँ।)

अन्ना नेंदे हनजी। (मैं खेत गया था।)

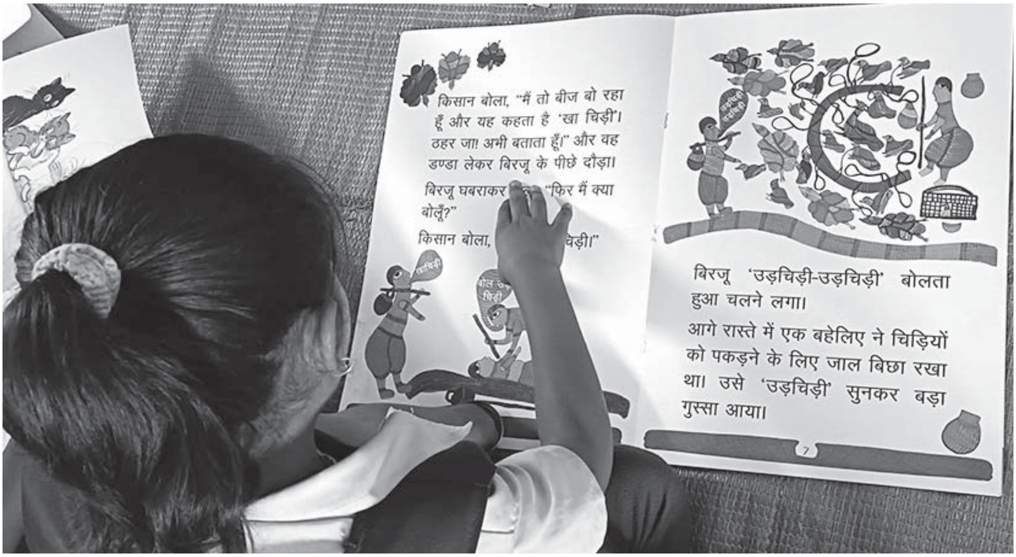
अन्ना नेंदे हंदाका। (मैं खेत जाऊँगा।)

अम्मा नेंदे हनतोड़ान। (हम खेत जा रहे हैं।)

बोड़ नेंदे हनतोड़? (कौन खेत जा रहा है?)

हम देख और सुन सकते हैं कि यह भाषा भी उसी तरह नियमों का पालन कर रही है जैसे कोई दूसरी भाषा या हिन्दी करती है।

ऐसे बच्चे, जिनके पास पहले से एक भाषा मौजूद है, दूसरी भाषा को बोलते हुए थोड़ी अतिरिक्त सतर्कता बरतते हैं, जिसमें ग़लती



चित्र : हिमांशु खोले



चित्र : हिमांशु खोले

करने का डर बना रहता है। जब तक यह भरोसा न बने कि सुनने वाले को उसकी बात की ज़रूरत है और उसका बोलना आवश्यक है, साथ ही उसका मज़ाक़ नहीं बनेगा, तब तक उसकी हिचकिचाहट उसकी अभिव्यक्ति को रोकती रहेगी।

प्रारम्भिक भाषा का पाठ्यक्रम क्या इस तरह की माँग करता है ?

भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग जो हम करते हैं, वह है अपने आसपास की दुनिया को एक अर्थ देना, या समझना। अपने अनुभवों को व्यवस्थित करने और उनकी व्याख्या करने, चिन्तन करने, निर्णय लेने, विचार को समझने, विचार या अवधारणाएँ बनाने आदि के लिए भाषा एक आवश्यक शर्त है। साथ ही भाषा विचार की क्षमता व कुछ दक्षताओं, जैसे स्मृति व उसका नियंत्रित उपयोग, कल्पना, तर्क, सम्बन्ध-बोध, कार्य-कारण सम्बन्ध-बोध आदि पर भी निर्भर करती है। ये सब क्षमताएँ या दक्षताएँ हर तरह की भाषा के विकास की जड़ में होती हैं। इनके बिना भाषा का विकास असम्भव है। ये क्षमताएँ भाषाई क्षमताओं पर निर्भर भी हैं। बिना भाषा के इनमें विकास भी सम्भव नहीं। यानी समझ, भाषा पर निर्भर है और भाषा, समझ पर। एक के बिना दूसरी सम्भव नहीं। हर स्तर पर ये दोनों क्षमताएँ एक दूसरे का सहारा बनते हुए, एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ती रहती हैं। इस समझ को अपनाने से मेरे लिए बच्चों के साथ स्कूल में मौखिक भाषा पर काम करना बहुत ज़रूरी बन पाया।

सुनकर समझना क्या है ?

एकलव्य के प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में पाठ्यक्रम का एक बुनियादी कौशल था– सुनकर समझना और बोलकर अभिव्यक्त करना। इनमें पहला कौशल, सुनकर समझना क्या है? हमारे आसपास सुनकर समझने के लिए बहुत कुछ होता है। बातचीत, आदेश, निर्देश, विनती, कहानी, कविता, गीत, नाटक, संवाद आदि के साथ ही विचार, भावनाएँ, प्रयोजन इत्यादि भी। यह सब हम (बच्चे भी) अपने आसपास सुनते हैं, पर इन्हें समझते कैसे हैं?

हमें समझ में आने का मतलब है कि हमने अपना अर्थ उन शब्दों में डाल दिया जो हमने सुने थे। तभी हम कहेंगे कि कही गई बात हमारी समझ में आ गई। इसमें सुनने वाले की चेतना और कोशिश का बड़ा महत्त्व है। यदि सुनने वाला किसी वजह से डरकर ख़ुद को अर्थ बनाने की प्रक्रिया से रोक रहा है तो उसे समझ नहीं आएगा या अर्थ ग्रहण करना बाधित होगा। यह भी कहा जा सकता है कि सुनना हमारा एक अनुभव तो है ही, यह मौखिक भाषा का बड़ा और अनिवार्य पहलू भी है। दूसरे, इसमें अन्य लोगों के अनुभव तक हमारी पहुँच बनती है।

मौखिक भाषा का उपयोग हम बोलकर अभिव्यक्त करने में करते हैं। अपने अनुभवों को समझ पाना, बोलकर अभिव्यक्त करने की आवश्यक तार्किक शर्त है। बोलकर अभिव्यक्त करना हमारी भाषा व समझ को निरन्तर परिष्कृत करते रहने का तरीक़ा भी है। स्कूल में सुनियोजित तरीक़े से बच्चों की अभिव्यक्ति की

माँग बनाना भाषा की कक्षा की अनिवार्य ज़रूरत होनी चाहिए।

इस तरह हम पाते हैं कि भाषा के उपरोक्त उपयोग के लिए कुछ विशुद्ध भाषाई क्षमताएँ आवश्यक हैं–

1. ध्वनि इकाइयों (शब्द) को पहचानना, उच्चारित कर पाना;
2. शब्द सामर्थ्य;
3. वाक्य संरचना का ज्ञान (इस्तेमाल से स्वतः आ जाने वाला); और
4. ध्वनि के उतार-चढ़ाव का बोध (इस्तेमाल से स्वतः आ जाने वाला)।

दूसरी क्षमताएँ, जैसे–

1. स्मृति व उसका नियंत्रित उपयोग;
2. कल्पना;
3. सम्बन्ध-बोध और कार्य-कारण सम्बन्ध-बोध;
4. तर्क; आदि।

कोई भी बच्चा जब शाला आता है तो उसमें ये सभी क्षमताएँ कुछ हद तक विकसित होती ही हैं। वह अपनी स्थानीय बोली समझता है और बोलता है। उसे स्कूल की भाषा (हिन्दी) के विकास के लिए मूल क्षमताएँ तो वही चाहिए, जो उसने अपनी मातृभाषा के लिए अर्जित कर रखी हैं। अतः बच्चों की उपरोक्त अर्जित क्षमताओं को आधार बनाकर शाला में हमने कुछ गतिविधियाँ कीं, जो उनके लिए हिन्दी भाषा सीखने में अत्यधिक सहायक बनीं। मसलन,

1. खेल खेलना जिसमें सहज ही भाषा का इस्तेमाल करना पड़ता है;
2. कहानी सुनना-सुनाना और कहानी पर बातचीत करना;
3. कविता, गीत;
4. वर्णन (घटना, वस्तु, परिस्थिति आदि का);
5. सहचिन्तन, चर्चा और बहस, आदि।

इन गतिविधियों को करते हुए मैंने उन संवेदनाओं और समझ का भरपूर उपयोग किया जो भाषा को केवल विषय न मानकर एक दूसरे को समझने का एक नया रिश्ता मानती हैं।

ऐसी बहुत-सी गतिविधियों का वर्णन किया जा सकता है जिनमें ये सारे बिन्दु विस्तार से दिखाए जाएँ। इस तरह की सैकड़ों गतिविधियाँ हैं। लेकिन मुझे लगता है कि इन गतिविधियों के पीछे निहित विचार पर चर्चा करना और उसकी समझ बनाना शिक्षकों के लिए अधिक ज़रूरी है। इस लेख में यही करने का प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ

1. *भाषा*, रोहित धनकर
2. एकलव्य प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम
3. *भाषा व ज्ञान*, नोम चोम्स्की
4. *पढ़ना, ज़रा सोचना*, कृष्ण कुमार
5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020
6. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : फ़ाउंडेशनल स्टेज 2022

मुकेश मालवीय पिछले दो दशक से भी ज़्यादा समय से स्रोत शिक्षक के रूप में सरकारी और ग़ैर-सरकारी भूमिकाओं में सक्रिय हैं। कक्षा अनुभवों को लेकर सतत लिखते रहते हैं। वर्तमान में अनुसूचित जाति विकास विभाग के शासकीय आवासीय ज्ञानोदय विद्यालय, होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में शिक्षक पद पर कार्यरत हैं।

सम्पर्क : mukeshmalviya15@gmail.com

बच्चों के पढ़ने–लिखने के विकास में पारिवारिक माहौल की भूमिका

गजेन्द्र राउत

यह लेख बच्चों की परवरिश के बारे में है। बच्चे पाठशाला में सीखते ही हैं, पर घर भी सीखने की एक महत्त्वपूर्ण जगह है। इस लेख में लेखक अपने बच्चे के साथ किए गए काम के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि घर के आसपास के बारे में बच्चों से बातचीत करना, उनकी किताबों और पढ़ने-लिखने को लेकर उनसे बात करना, उनके साथ पढ़ना, यह सब पढ़ने-लिखने की आदत विकसित करने में मददगार होता है। वे हिन्दी, अँग्रेज़ी और मराठी में बच्चों के लिए लिखी गई कई किताबों का ज़िक्र भी करते हैं और यह भी बताते हैं कि इन किताबों का इस्तेमाल उन्होंने अपने बच्चे के साथ कैसे किया। -सं.

पृष्ठभूमि

प्रस्तुत लेख में, मैं एक अभिभावक के नाते अपने उन अनुभवों को आपसे साझा कर रहा हूँ जिनके चलते मेरा पुत्र आरव आज किसी भी टेक्स्ट को समझते हुए सहजता के साथ पढ़ सकता है और सृजनात्मकता के साथ लिखते हुए अपनी बात को अभिव्यक्त कर सकता है। मैं यहाँ बच्चे के भाषा विकास क्रम और परिवार में मिलने वाले माहौल व सहयोग के प्रभावों पर अपनी बात रखूँगा। मुझे आशा है कि मेरे इन व्यक्तिगत अनुभवों से पारिवारिक माहौल और अभिभावकों के स्तर पर किए जाने वाले प्रयासों की बच्चों के पढ़ने-लिखने के विकास में भूमिका पर कुछ रोशनी डाल सकूँगा और इनके वृहद शैक्षिक निहितार्थों को उकेर सकूँगा।

आरव का जन्म जुलाई 2010 में हुआ। शुरुआती 2 वर्षों तक हम मुंबई के बोरीवली इलाक़े में संजय गाँधी नेशनल पार्क के समीप स्थित अपने चचेरे भाई के घर पर ही रहा करते थे। नेशनल पार्क के जंगल में वन्य जीवन काफ़ी समृद्ध था। घर के पास अनेकों बन्दर इकट्ठा हो जाते थे। कुछ बन्दर अपनी माँ के साथ पेड़ पर चढ़ना-उतरना सीख रहे थे। आरव बहुत देर तक उन्हें देखता रहता। अब तक उसका टेक्स्ट से कोई वास्ता नहीं पड़ा था। हाँ, कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ, जो मुझे शिक्षक प्रशिक्षण में इस्तेमाल करनी होती थीं, मैं ज़रूर उसे सुनाता था। उसे बड़ा आनन्द आता था सुनने में।

डोम्बिवली के एक साधारण सरकारी स्कूल के बाद माणगाव (ज़िला रायगढ़, महाराष्ट्र) में आरव का दाख़िला मराठी माध्यम स्कूल में करवाया। मेरा मानना था कि शुरुआती पढ़ाई अपनी मातृभाषा में ही हो तो अच्छा! पिछले कुछ वर्षों में मैंने समझा कि दुनिया का हर बच्चा, चाहे उसकी मातृभाषा कोई भी हो, भाषा का इस्तेमाल कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करता है। एक बड़ा उद्देश्य तो अपने इर्द-गिर्द इस दुनिया को समझना ही है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भाषा एक अद्भुत उपकरण के रूप में कार्य करती है। जब तक हम बच्चे के दृष्टिकोण से और बच्चे की ज़िन्दगी में भाषा की भूमिका को समझने में असमर्थ रहते हैं, तब तक हम माता-पिता, अध्यापक या शिक्षा

कार्यकर्ता के रूप में अपनी भूमिका ठीक से तय नहीं कर सकते।

मुझे लगता है कि भाषा को सिर्फ़ सम्प्रेषण का साधन मानकर हम उसका दायरा संकुचित कर देते हैं। शिक्षाविद् कृष्ण कुमार कहते हैं, "हममें से कई लोग भाषा को सम्प्रेषण का साधन मानने के इतने ज़्यादा आदी हो चुके है कि हम सोचने, महसूस करने और चीज़ों से जुड़ने के साधन के रूप में भाषा की उपयोगिता को अकसर भूल जाते हैं"। भाषा के उपयोग का यह व्यापक दायरा उन लोगों के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है जो छोटे बच्चों के साथ काम करना चाहते हैं। शिशु के व्यक्तित्व और उसकी क्षमताओं के विकास को आकार देने में भाषा एक विशेष भूमिका निभाती है। एक सूक्ष्म किन्तु मज़बूत ताक़त की तरह भाषा संसार के प्रत्येक बच्चे के दृष्टिकोण, उसकी रुचियों, क्षमताओं, यहाँ तक कि मूल्यों और मनोवृत्तियों को भी आकार देती है।" (कुमार : 1986, पृ. 1)

मैं भी जो कर रहा था वह इस नज़रिए के द्वारा ही निर्देशित हो रहा था।

किताबों की संगत

2013 में पहली बार मैंने आरव के लिए किताबों का एक सेट ख़रीदा। तब वह 3 साल का हुआ था। तूलिका पब्लिशर्स द्वारा प्रकाशित इन किताबों में से कुछ किताबों के नाम मुझे अभी भी याद हैं, जैसे– *हैलो!, व्हेअर इज़ थांगी, 9 टू 1, फ़्लॉवर,* आदि। इन सभी किताबों में सुन्दर चित्र भी थे और करने के लिए गतिविधियाँ भी। इन सभी किताबों के आख़िरी पन्ने पर लिखा होता, "आय कैन रीड दिस बुक"। जब आरव पूरी किताब पढ़ लेता तो उसे अहसास होता कि उसने एक किताब पूरी कर दी। यहाँ मेरा पढ़ने से मतलब सिर्फ़ टेक्स्ट तक सीमित नहीं था। मैं मानता था कि चित्र देखना भी एक तरह का पढ़ना ही होता है। मैंने और भी कई सारी किताबें ख़रीदीं, कुछ में सिर्फ़ चित्र थे, कुछ में चित्र और टेक्स्ट, कुछ में सिर्फ़ टेक्स्ट ही था और कुछ द्विभाषी पुस्तकें थीं। मैं चाहता था कि वो अलग-अलग किताबों को देखे, उलट-पलटकर छुए, मुझे देखे कि कैसे मैं लिपिबद्ध शब्दों को देख-देखकर उच्चारित कर रहा था ताकि वह उच्चारित ध्वनि और लिपिबद्ध शब्दों के बीच सम्बन्ध का अवलोकन कर पाए। हमारे घर में कोई अलमारी नहीं थी जिसकी वजह से किताबें इधर-उधर पड़ी रहती थीं। इसका फ़ायदा यह हुआ कि कई बार आरव की नज़र उनपर पड़ती और वह किताब हाथ में लेकर देखता, चित्रों का आनन्द उठाता, कभी-कभार पन्ने भी फाड़ देता। मेरी कोशिश यही रहती कि किताबें हरदम उसकी पहुँच में रहें।

अपने प्रोफ़ेशनल जीवन में आए दिन किताबों के महत्त्व के बारे में शिक्षकों से बातचीत होती थी। प्रशिक्षणों में भी मुख्य एजेंडा यही रहता था कि कैसे किताबें बच्चों के सामाजिक और संज्ञानात्मक विकास में मदद करती हैं। रुडाइन सिम्स बिशप (1990) कहती हैं, "किताबें 'खिड़कियाँ, दर्पण और स्लाइडिंग ग्लास डोर की तरह होती हैं।' दर्पण की तरह वह जो हम देखते हैं उसे प्रतिबिम्बित करने और जिस दुनिया में हम रहते हैं उसे जानने में मदद करती हैं। अपने जैसे किसी व्यक्ति के बारे में कहानी पढ़ना या सुनना अपने-आप में रोमांचकारी होता है। एक खिड़की की तरह किताबें हमें उन जीवनों को देखने और समझने की भी अनुमति देती हैं जो हमारे अपने से भिन्न हैं। स्लाइडिंग ग्लास डोर से तात्पर्य है, कैसे कोई पाठक किसी कहानी में आ और जा सकते हैं। लेखक द्वारा बनाई गई दुनिया का हिस्सा बन सकते हैं दूसरे के अनुभव में पूरी तरह से डूब जाते हैं।

मुझे हर बार लगता है कि अगर आप ख़ुद किसी बात से आश्वस्त हैं तो दूसरों को भी उसके बारे में आश्वस्त कर सकते हैं। कई बार प्रशिक्षण में जाने से पहले मैं आरव को कहानी सुनाया करता था और इससे मेरे दोनों काम हो रहे थे। एक तो शिक्षक प्रशिक्षण के लिए तैयारी और दूसरा आरव के साथ सार्थक समय

बिताना। इस तरह आरव ने कई कहानियाँ और कविताएँ सुनीं।[1] कुछ का ज़िक्र मैं ख़ासतौर पर यहाँ करना चाहूँगा– 'गिजुभाई का गुलदस्ता' भाग 1 से 10 तक, जिसमें से मुझे एक कहानी अभी भी याद है 'गंगाराम और मंगाराम', इस कहानी में एक ख़ास आकर्षण था, जो किसी को भी पसन्द आ जाए।

इन कहानियों और कविताओं को सुनने का असर यह हुआ कि आरव की सुनने की क्षमता बढ़ने लगी। वह कहानी के पात्रों के बारे में, किसी कहानी में आगे क्या होगा, आदि पर भी बात करने लगा। ख़ुद कहानी बनाने लगा, उसके पास समृद्ध शब्द संग्रह बढ़ता गया। कहानी ने उसके सोचने का दायरा बढ़ाया। मैंने उसे अलग-अलग शब्द देकर उनसे कहानी बनाने के लिए प्रेरित किया। एक बार मैंने उसे 'राजा', 'राक्षस', 'सेना', 'घोड़ा', 'मगरमच्छ', 'भाला', 'झण्डा', 'लड़ाई', 'लोग', 'हाथी' आदि शब्दों का उपयोग करके एक कहानी लिखने के लिए कहा। उसने अपनी कल्पना के बल पर नोटबुक के क़रीब 30 पृष्ठ लिखे। ये पृष्ठ अचानक नहीं लिखे गए क्योंकि कई बार बीच-बीच में उसने कहानी को लिखना छोड़ दिया था। कुछ बार यह अन्तराल एक-दो महीनों का भी रहा। लेकिन वह लिखता रहा और इसी लिखने के सफ़र में एक साल कैसे निकल गया, पता ही नहीं चला। ऐसा करते-करते आख़िरकार उस कहानी को आरव ने अन्तिम मुक़ाम तक पहुँचा ही दिया। इस कहानी के चित्र भी उसने बनाए।

"राजा सुदीर जादुई जाल का पता चलने से बहुत ख़ुश हुए क्योंकि यही एक चीज़ थी जो महल तक जाने से उसे रोक रही थी, पर उस ख़ुशी में भी एक दुःख था, उनको बस जादुई जाल कहाँ पर था यही पता था, पर ये नहीं पता था कि वो जाल कितने ख़तरनाक थे। जब राजा सुदीर ने महल के नक़्शे को पहली बार देखा तो उसे झटका-सा लगा, क्योंकि वह जादुई जाल एक नहीं था, दो नहीं थे, बल्कि कदम-कदम पर एक जादुई जाल था"

(आरव द्वारा लिखित राजा सुदीर की साहस कथा का एक अंश)



1. इनमें से मुझे अभी भी कुछ याद हैं, जैसे- 'क्यों जी बेटा रामसहाय', 'मैं भी', 'बिल्ली के बच्चे', 'रूसी और पूसी', 'चिकनिक चूँ', 'भेड़िए को दुष्ट क्यों कहते हैं?', 'पहला घर', 'मन के लड्डू', 'ओ हरियल पेड़', 'झींगुर गा ना पाए', 'अक्ल बड़ी या भैंस', 'बम्बू टस से मस न होने वाला गधा', 'महके सारी गली गली' (कविता संग्रह, एकलव्य प्रकाशन); 'The Red Umbrella – लाल छत्री', 'Purple Jojo – वांगी रंगाचा जोजो', 'Line and Circle – रेघ आणि वर्तुळ', 'Little Frog – छोटासा बेडूक', 'एक भील कथा', 'Jalebi Curls – जिलबीची वेटोळी', 'The Rooster and the Sun – कोम्बडा आणि सूर्य', 'Monday to Sunday – सोमवार ते रविवार', 'Upside down – उलटे सुलटे', 'Where is Amma', 'Dancing on the walls', 'Where is that cat', 'Rooster Raga', 'Mala's Silver Anklets' (तूलिका प्रकाशन); 'बाल रामकथा', 'बाल महाभारत कथा' (एनसीईआरटी); 'काश एक बेटा मेरा भी होता', 'जिष्णु की चतुराई' (कथा प्रकाशन); 'छोटा पक्षी', 'नीना आणि मांजर', 'इचा पूचा' (ज्योत्स्ना प्रकाशन); 'चार बहरे', 'चिड़ियाघर का नाई', 'नटखट जम्बो', 'महगिरि' (सीबीटी प्रकाशन); 'मुथुची मनोराज्ये', 'बरसात कब होगी', 'मानुस आणि सावळी', 'शोर मचा जंगल में' (एनबीटी प्रकाशन); और ऐसी कई सारी किताबें।

आरव इस कहानी से सम्बन्धित अपने अनुभव में कहता है कि मेरे लिए एक ही सलाह सबसे काम की थी जो मेरे पापा ने दी थी। जब भी मैं बीच-बीच में लिखना रोक देता था तब मुझे हर बार कहा जाता था कि लिखते रहो, वह एक दिन ख़त्म ज़रूर होगी।

पढ़े हुए पर संवाद

कहानी सुनाने का मेरा उद्देश्य आरव का नैतिक विकास करना कभी नहीं रहा। मैं ख़ुद इन कहानियों में डुबकियाँ लगाता और आरव को भी प्रेरित करता कि वह भी कहानियों में मज़े से गोता लगाए और उसका लुत्फ़ उठाए। इन कहानियों पर हम सोते वक़्त बातचीत करते थे। अगर मैं घर पर नहीं होता तो उसकी मम्मी उसे कहानी सुनाती और बातचीत करती। बातचीत करना एक अमूल्य संसाधन है जिसकी लागत कुछ भी नहीं है, ख़ासकर पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक स्कूल के बच्चों के साथ। इस दृष्टिकोण से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं आरव के साथ ढेर सारे विषयों पर बात करूँ। हम किसी भी मुद्दे को लेकर बात करते थे, ख़ासकर उसके स्कूल में दिनभर क्या हुआ, उसने नया क्या सीखा, पूरे दिनभर कोई नया सवाल मन में आया क्या, कोई पुरानी बात नए तरीक़े से समझी क्या, सबसे बकवास बात क्या लगी और क्यों, आदि अनेक सवालों पर हम बात करते नहीं थकते। मैंने उसे व्यस्त रखने के लिए कोई चीज़ नहीं ख़रीदी, क्योंकि बातचीत जैसा मूल्यवान संसाधन मेरे पास पहले से ही मौजूद था।

सिर्फ़ किताबें होने से काम नहीं बनता, किताब पढ़ने के बाद उसपर बातचीत भी ज़रूरी है। कहानी के बाद चर्चा करना थोड़ा मुश्किल काम है। कहानी के नैतिक मूल्य, अगर उस कहानी में है भी, में बच्चों को कोई विशेष रुचि नहीं होती; उनके लिए तो बस कहानी ही महत्त्वपूर्ण है। अगर हम उनसे नैतिक मूल्य के बारे में पूछते हैं, तो हम अपने काम की उपलब्धि को ही कम कर देते हैं। दूसरा मुद्दा, ज़्यादातर शिक्षकों और अभिभावकों द्वारा इस बात पर ज़ोर देना है कि बच्चों को कहानी याद होनी चाहिए। कुछ पालक चाहते हैं कि जब घर में मेहमान आएँ तो बच्चे ज्यों-की-त्यों कहानी या कविता उन्हें सुनाएँ। बच्चे इस माँग से चिन्तित होते हैं और कहानियों का आनन्द लेना बन्द कर देते हैं क्योंकि वे उस माँग के बारे में चिन्तित महसूस करते हैं जिसे उन्हें बाद में पूरा करना होगा।

लिखित भाषा की चारों ओर उपस्थिति

मैंने घर में सारी दीवारों पर चार्ट लगा दिए थे। हिन्दी और अँग्रेज़ी वर्णमाला के चार्ट मैंने जानबूझकर नहीं लगाए थे। मेरा मानना था कि बच्चे भाषा को किसी सन्दर्भ में समझते हैं, ऐसे टुकड़े-टुकड़े करके भाषा सीखने में उन्हें आनन्द नहीं आता और फिर स्कूल में ये सब पढ़ाया जा ही रहा था। मैंने एकलव्य से प्रकाशित कुछ ऐसे चार्ट दीवार पर लगाए थे जिनमें टेक्स्ट और चित्र दोनों थे। मसलन, 'एक बुढ़िया', 'बादल', 'पापा की रोटी', 'दो पतंग', 'मैं भी', 'उड़न छू', 'पक पक', 'जामुन', 'Five Big Laddus', 'चींटी और जूँ'। अगर कोई बच्चा टेक्स्ट नहीं भी पढ़ पाता, तब भी वह इन चार्टों में दिए गए चित्रों को देखकर और अन्दाज़ा लगाकर कहानी बता सकता था। आते-जाते आरव की नज़र इन चार्टों पर पड़ती। मैं उसके साथ जब इन चार्टों से पढ़ता तो वह धीरे-धीरे ध्वनि और अक्षर में सम्बन्ध देखना शुरू कर रहा था। कुछ ऐसे भी चार्ट लगाए थे जो ख़ाली थे। उसे स्वतंत्रता थी कि वह इनपर कुछ भी बनाए, लाइनें खींचे, चित्र बनाए या घर की वस्तुओं के नाम लिखे। इनमें मुझे याद है वह पेन, बेड, गाड़ी, गाय, बकरी, शाळा जैसे शब्द लिखने लगा।

कृष्ण कुमार की बात मेरे ज़ेहन में गूँजती रहती थी कि, "...'पढ़ने का स्वस्थ कौशल' हम उन कौशलों के समूह को मानेंगे जो लिखी या छपी भाषा को अर्थ से जोड़ने में बच्चे की मदद करते हैं। जब तक एक बच्चा पढ़ी हुई सामग्री को समझने या पहले से ज्ञात किसी चीज़ से जोड़ने में असमर्थ रहता है तब तक हम उसकी पढ़ने की क्षमता को स्वस्थ नहीं कह सकते।

पढ़ने की परिभाषा हम 'लिखे हुए शब्दों में अर्थ ढूँढ़ने की प्रक्रिया' के रूप में करेंगे।"

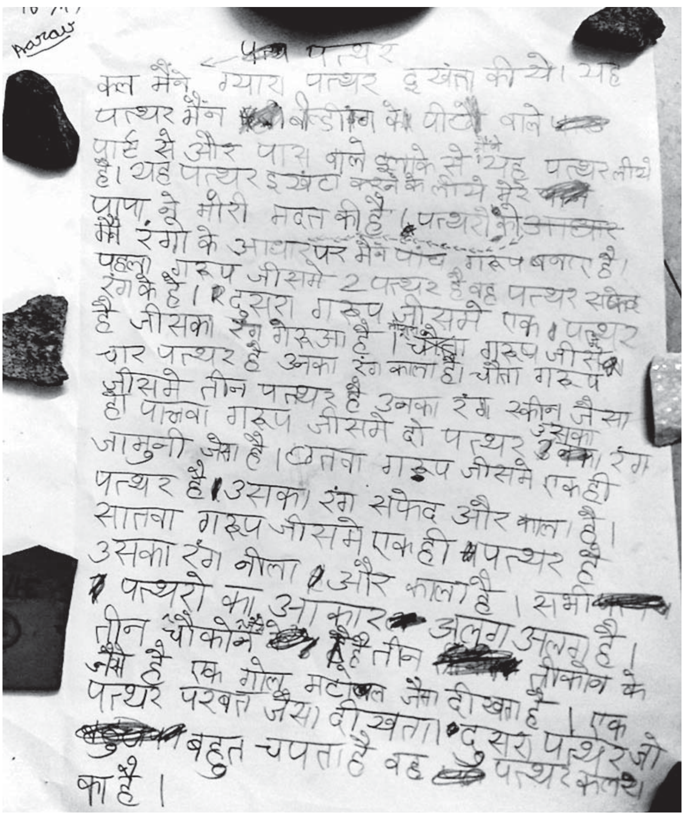
आरव की पढ़ने की शुरुआत टेक्स्ट से ही हुई। मैं चार्ट और कार्ड की उपयोगिता को पूरी तरह नकार नहीं रहा हूँ, लेकिन वे निरन्तर टेक्स्ट व किताबें पढ़ने के लिए प्रेरणा नहीं देते हैं। मैंने ढेर सारी हिन्दी, मराठी, अँग्रेज़ी की किताबें ख़रीदीं। इन किताबों की ख़ास बात यह थी कि वो छोटी साइज की थीं और उनमें ढेर सारे चित्र थे।

इन किताबों को पढ़कर सुनाने और इनपर बातचीत करने का एक फ़ायदा यह हुआ कि कुछ ही समय में आरव केवल चित्रों को देखकर ही कहानी का अनुमान लगा लेता। इसी अनुमान के सहारे वो आगे चलकर किताब को स्वयं पढ़ने लगा। *फु कू, जलेबी, गाय, खिलौने वाली, नाना-नानी, आई एक ख़बर, नया स्वेटर, भालू ने खेली फ़ुटबॉल, अशरफ़ का उड़न खटोला, छतरी, अट्टु गट्टू, तुमने मेरा अंडा तो नहीं देखा,* आदि ऐसी ही कुछ किताबों के नाम हैं। बाद में *साइकिल* और *प्लूटो* मैगज़ीन (इकतारा प्रकाशन) भी बहुत उपयोगी संसाधन साबित हुए।

2016 में हम महाराष्ट्र से दिल्ली आ गए। यहाँ आरव का दाख़िला कक्षा 1 के बजाय यूकेजी में करवाना पड़ा क्योंकि आरव मराठी स्कूल से आया था और यह स्कूल अर्द्ध-अँग्रेज़ी माध्यम का था। अधिकांश रूप से यहाँ पढ़ाई हिन्दी में ही होती थी। हिन्दी उसके लिए एकदम नई भाषा नहीं थी। चूँकि मराठी और हिन्दी की लिपि देवनागरी ही है, इसलिए उसे यह कठिन नहीं लगी। उसने पढ़ना और लिखना जल्दी ही सीख लिया।

लेखन को प्रोत्साहन

मैं लेखन को मौखिक भाषा के विस्तार के रूप में ही देखता हूँ। आरव को अब आत्मविश्वास था कि वह किसी के साथ भी बात करने में सक्षम है। यह आत्मविश्वास इतनी सारी कहानियाँ सुनने एवं उनपर बात करने से आया। अब इन्हीं बातों को वो लिखने लगा। जब मैं ऑफ़िस से लौटता तो एक बात ज़रूर करता कि आरव कम-से-कम दो-चार लाइनें रोज़ लिखे, लेकिन वो लाइनें उसके अपने मन की हों। लिखने की इस प्रक्रिया में उसे पता लगा कि लिखी हुई बातें हम कभी भी वापस देख सकते हैं। लिखने का यह सफ़र शब्दों और वस्तुओं के विवरण से आगे बढ़कर, किसी अनुभव को विस्तार से लिखने तक बढ़ा।

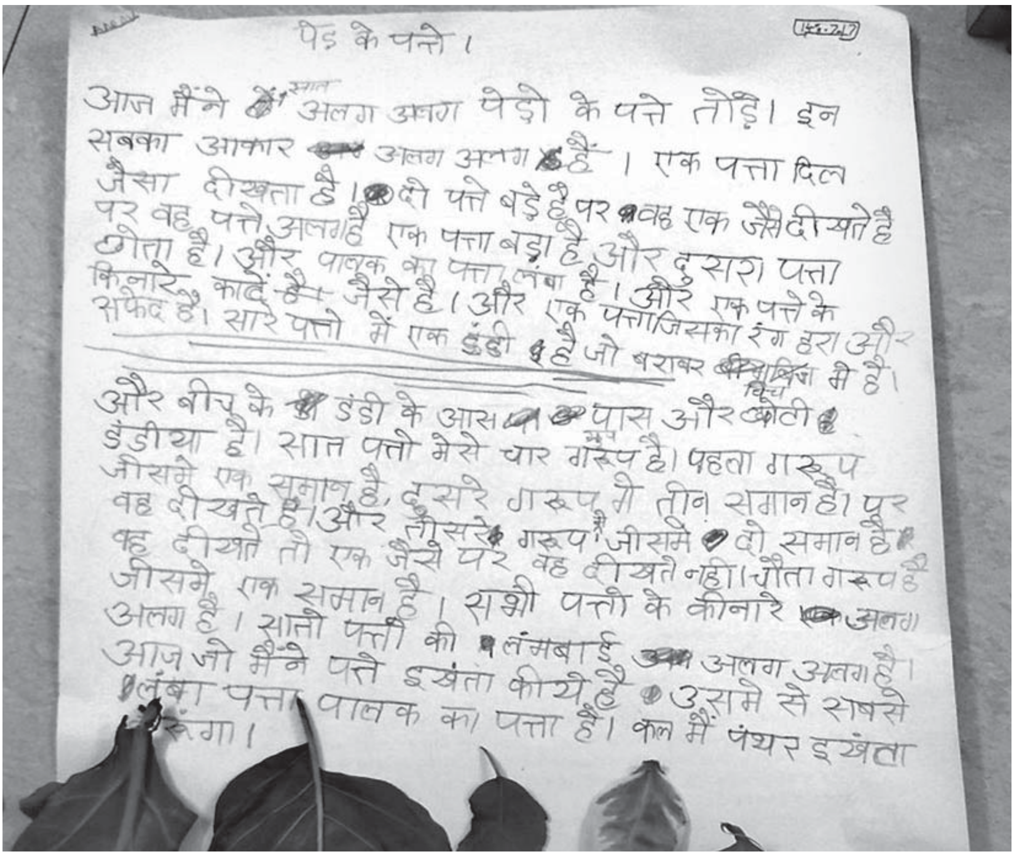


जब आरव ने लिखना शुरू किया तो मैं उसे कुछ लेखन बिन्दुओं को चिह्नित करने में मदद करता। उदाहरण के लिए, मैं उससे घर में दिख रही चीज़ों के बारे में पूछता और इनमें से उसे जो चीज़ पसन्द होती, उसपर लिखने को प्रेरित करता। साथ ही उसके द्वारा देखी गई जगहों के अनुभव लिखने को प्रेरित करता। इस प्रकार उसने यात्राओं के वर्णन लिखने शुरू किए। उसे इन सब अनुभवों पर लिखने में आनन्द आता। कभी-कभी एकत्रित पेड़ के पत्तों और पत्थरों के अवलोकनों, इनके पैटर्न आदि के बारे में भी उसने लिखा।

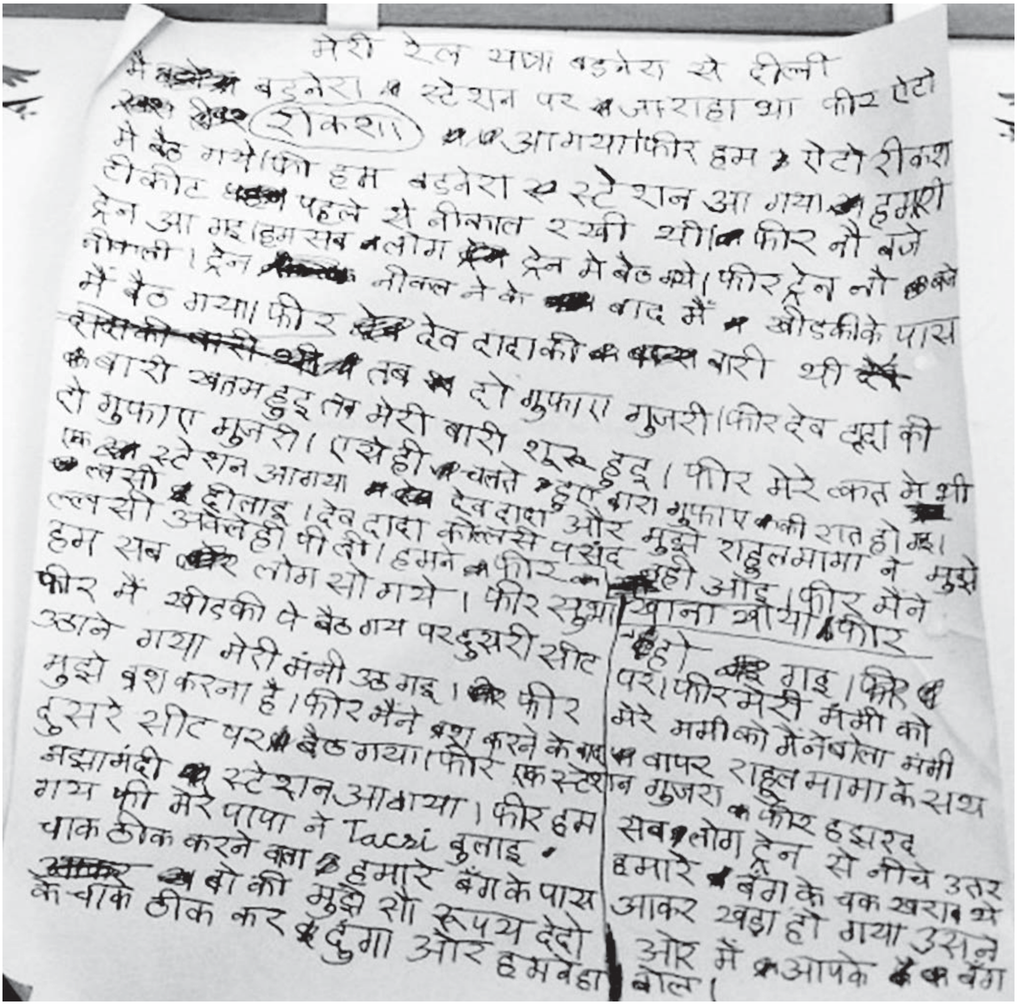
अब अनुभव के साथ-साथ उसका शब्द भण्डार भी बढ़ रहा था। कुछ विषयों पर तो वह थोड़ा-थोड़ा लिखते हुए एक-एक महीना लगा देता। समय-समय पर प्रोत्साहित करना इसमें बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

शुरुआती लेखन यात्रा में व्याकरण के प्रति रवैया

लिखने की इस यात्रा में मैंने और मेरी पत्नी ने व्याकरण के लिए आरव को आमतौर पर नहीं टोका। हम चाहते थे वो खुलकर लिखे। हमें लगता था कि व्याकरण आगे जाकर सीख ही लेगा। यही कारण था कि उसने जल्दी ही पढ़ना और लिखना सीख लिया। लेखन की यात्रा के दौरान वह किसी भी ग़लती पर कभी रुका नहीं, और हमने भी बहुत टोका नहीं। अगर उसके द्वारा लिखे गए विषयों को देखा जाए तो इनमें विविधता है। मसलन, शुरुआत में घर की वस्तुओं जैसे फ़ैन, एसी, आम, ग्लोब, पुस्तक, लैपटॉप, चुम्बक, फ़्रिज, कलम, कम्बल, मेरा पसन्दीदा फल, मेरा जन्मदिन, मेरा घर, पेड़ के पत्ते, आदि पर उसने लिखा। आगे चलकर उसने स्कूल में हुए अनुभवों, मसलन, स्कूल का पहला दिन,


पेड़ के पत्ते।

आज मैंने सात अलग अलग पेडो के पत्ते तोड़े। इन सबका आकार अलग अलग है। एक पत्ता दिल जैसा दीखता है। दो पत्ते बड़े है पर वह एक जैसे दीखते है पर वह पत्ते अलग है एक पत्ता बड़ा है और दुसरा पत्ता छोता है। और पालक का पत्ता लंबा है। और एक पत्ते के किनारे काटें जैसे है। और एक पत्ता जिसका रंग हरा और सफेद है। सारे पत्तो में एक डंडी है जो बराबर बीच मे है। और बीच के डंडी के आस पास और छोटी डंडीया है। सात पत्तो मेसे चार गरूप है। पहला गरूप जीसमे एक समान है, दुसरे गरूप मे तीन समान है। पर वह दीखते है और तीसरे गरूप मे जीसमे दो समान है वह दीखते तो एक जैसे पर वह दीखते नही। चौता गरूप है जीसमे एक समान है। सभी पत्तो के कीनारे अलग अलग है। सातो पत्ती की लंमबाई अलग अलग है। आज जो मैंने पत्ते इखंता कीये है उसमे से सबसे लंबा पत्ता पालक का पत्ता है। कल मैं पथर इखंता करूंगा।


मेरी रेल यात्रा बडनेरा से दील्ली
मै बडनेरा स्टेशन पर जा राहा था फीर ऐटो
(रीकशा) आ गया। फीर हम ऐटो रीक्शा
मे बैठ गये। फीर हम बडनेरा स्टेशन आ गया। हमारी
टीकीट पहले से नीकाल रखी थी। फीर नौ बजे
ट्रेन आ गइ। हम सब लोग ट्रेन मे बैठ गये। फीर ट्रेन नौ बजे
नीकाली। ट्रेन नीकल ने के बाद मैं खीडकी के पास
मैं बैठ गया। फीर देव दादा की बारी थी
~~दासो की बारी थी~~ तब दो गुफाए गुजरी। फीर देव दादा की
बारी खतम हुइ तब मेरी बारी शुरू हुइ। फीर मेरे वक्त मे भी
दो गुफाए गुजरी। एसे ही चलते हुए बारा गुफाए की रात हो गइ।
एक स्टेशन आ गया देव दादा और मुझे राहुल मामा ने मुझे
लसी दीलाइ। देव दादा को लसी पसंद नही आइ। फीर मैंने
लसी अकेले ही पी ली। हमने फीर खाना खाया। फीर
हम सब लोग सो गये। फीर सुबा हो गइ। फीर
फीर मैं खीडकी पे बैठ गया पर दुसरी सीट पर। फीर मेरी ममी को
उठाने गया मेरी मंमी उठ गइ। फीर मेरे ममी को मैंने बोला मंमी
मुझे ब्रश करना है। फीर मैंने ब्रश करने के बाद वापर राहुल मामा के सथ
दुसरे सीट पर बैठ गया। फीर एक स्टेशन गुजरा फीर हझरत
नझामंदी स्टेशन आ गया। फीर हम सब लोग ट्रेन से नीचे उतर
गये फीर मेरे पापा ने Tacxi बुलाइ। हमारे बॅग के चक खराब थे
चाक ठीक करने वाला हमारे बॅग के पास आकर खडा हो गया उसने
बोकी मुझे सौ रूपय देदो और मैं आपके बॅग
के चाके ठीक कर दुंगा और हम बेहा बोल।

स्वतंत्रता दिवस, मेरी छुट्टी, साइंस म्यूज़ियम की यात्रा, फ़नी स्कूल, एयरपोर्ट म्यूज़ियम, जस्ट चिल वाटर एंड फ़न पार्क-दिल्ली, आदि पर लिखा। दूसरी कक्षा तक आते-आते वह अपने द्वारा की जाने वाली यात्राओं पर लिखने लगा। मसलन, मेरी ट्रेन की यात्रा बडनेरा से दिल्ली तक, दिल्ली का अक्षरधाम मन्दिर, शिमला की यात्रा, दिल्ली का चिड़ियाघर, चोखी ढाणी सोनीपत की कहानी, बाल भवन की यात्रा, आदि। इस प्रकार उसके लेखन का दायरा बढ़ता गया। मेरे एक साथी की मदद से हमने उसके लेखन को बिना किसी सम्पादन के ऑनलाइन प्रकाशित भी किया। इस प्रकाशन से आरव को और प्रोत्साहन मिला और फिर लिखने का सिलसिला आगे तक जारी रहा।

अच्छे स्कूल और मीडियम की भूमिका

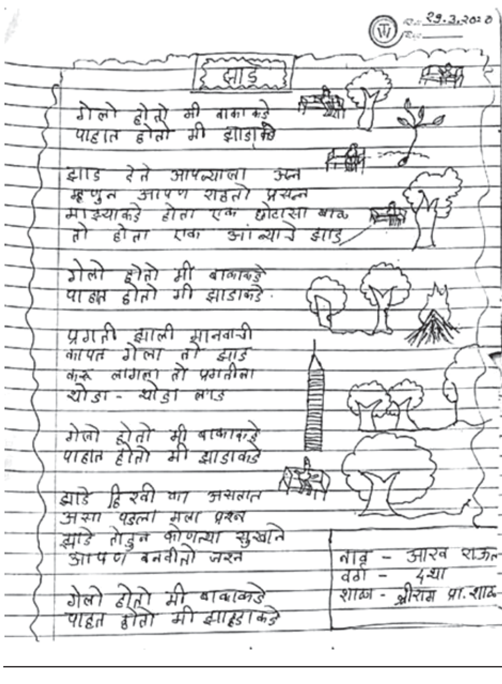
जून 2019 में निजी कारणों से हम दिल्ली से अपनी पैतृक जगह अमरावती लौट गए। अमरावती आते ही हमारे सामने आरव के लिए एक ‘अच्छे स्कूल’ का मुद्दा उठा। बच्चे का किस स्कूल में दाख़िला करवाना है यह निर्णय सिर्फ़ माँ-बाप ही नहीं लेते, बल्कि दादा-दादी, चाचा-चाची और अन्य परिवारजन की भी इसमें अहम भूमिका होती है। ग़ौरतलब है कि ‘अच्छा स्कूल’ को लेकर इन सब सदस्यों के

अपने-अपने मत होते हैं। हमारे साथ भी यही हुआ। दादी का कहना था, "पास वाले के बच्चे देखो, अँग्रेज़ी मीडियम स्कूल में जाते हैं जहाँ अच्छे घरों से बच्चे आते हैं। आज कल अँग्रेज़ी पढ़ना भी तो बहुत ज़रूरी है।" अमरावती में भी कई स्कूल हैं। ये स्कूल स्टेट बोर्ड, सीबीएसई, आईबी, आईसीएसई आदि से सम्बद्ध हैं। आरव की मम्मी का कहना था, "हमारा एक ही तो बच्चा है उसकी पढ़ाई के लिए भी क्या रुपए-पैसे का सोचोगे?" मेरा कहना था, "बात पैसे की नहीं है। लेकिन हमें सोचना चाहिए कि आरव का भला किसमें है, बड़े-बड़े स्कूलों में रहकर वह कहीं भीड़ में न खो जाए! मैं जानता हूँ म्युनिसिपल स्कूलों के हालात ठीक नहीं हैं, लेकिन मैं कुछ और स्कूलों को भी देख रहा हूँ।" मैं ऐसा स्कूल देख रहा था जो घर के नज़दीक हो ताकि आने-जाने का समय बचे, स्कूल के शिक्षक स्थाई हों, स्कूल बहुत बड़ा न हो, जहाँ शिक्षक एवं बच्चों का संवाद लगातार होता हो, स्पर्धा के बजाय सहयोग को महत्त्व दिया जाता हो, स्कूल को स्थाई रूप से सरकारी सहायता प्राप्त होती हो, आदि। ऐसा स्कूल मुझे मिला भी। आरव का दाख़िला हमने सरकारी वित्तीय सहायता प्राप्त 'श्रीराम प्राथमिक स्कूल' में करवाया। घर में दाख़िले को लेकर जो चर्चा होती थी आरव उसे सुनता था। इसका ज़िक्र उसके लेखन में भी दिखता है :

"मेरे पापा मुझे सिर्फ श्रीराम स्कूल में ही डालना चाहते थे, वो स्कूल एकदम सस्ती थी बाकि सारे स्कूल महंगे थे और वो पास भी थी।"– (आरव की डायरी-मेरी श्रीराम स्कूल में एडमिशन।)

स्कूल का जो वातावरण था उसका सीधा असर उसकी पढ़ाई-लिखाई पर हुआ। यहाँ वो मराठी सीखने लगा। इससे पहले आरव जो लिखता था, सब हिन्दी में था। उसकी हिन्दी भाषा पर पकड़ थी, इसलिए उसे मराठी लिखने में ज़्यादा कठिनाई नहीं हुई और देखते-ही-देखते उसने मराठी में भी नीचे लिखे कुछ विषयों पर अपने अनुभव लिखने शुरू कर दिए :

"शैक्षणिक सहल फन अण्ड फ़ूड नागपुर, आनद मेळावा माझे अनुभव, कोरोना एक संकट,


29.3.2020

झाड

गेलो होतो मी बाबाकडे
पाहात होतो मी झाडाकडे

झाड देते आपल्याला अन्न
म्हणून आपण राहतो प्रसन्न
माझ्याकडे होता एक छोटासा बाळ
तो होता एका आंब्याचे झाड

गेलो होतो मी बाबाकडे
पाहात होतो मी झाडाकडे

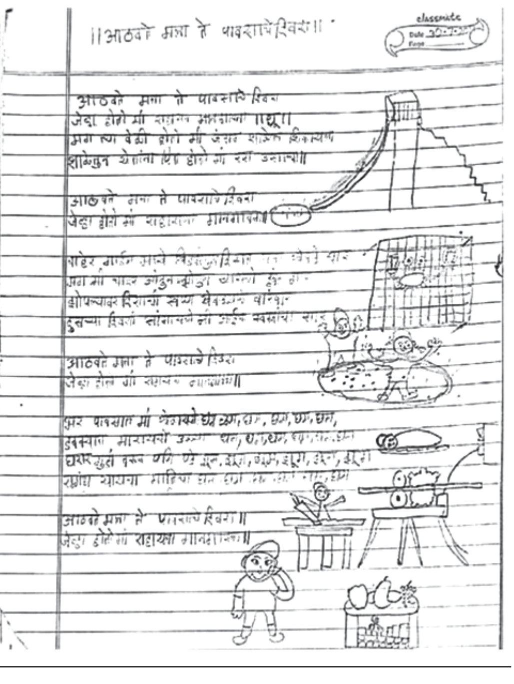
प्रगती झाली मानवाची
कापत गेला तो झाड
करू लागला तो प्रगतीला
थोडा - थोडा लाड

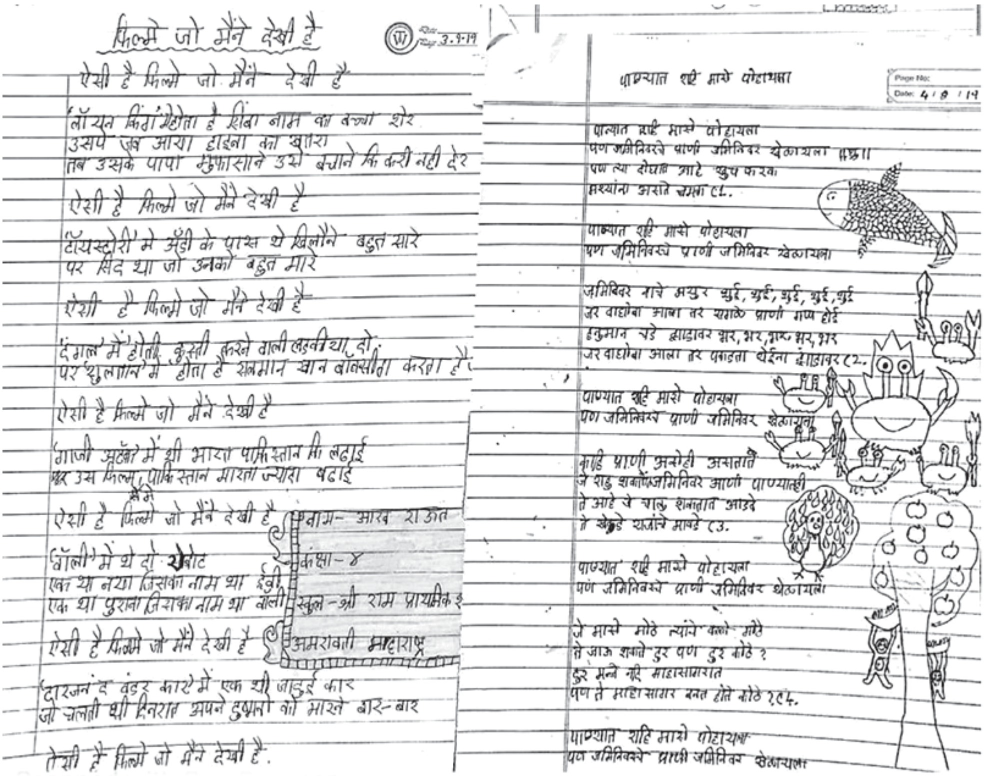
गेलो होतो मी बाबाकडे
पाहात होतो मी झाडाकडे

झाडे हिरवी का असतात
असा पडला मला प्रश्न
झाडे तोडून कोणत्या सुखाने
आपण बनवीतो जश्न

गेलो होतो मी बाबाकडे
पाहत होतो मी झाड्डाकडे

नाव - आरव राऊ
वर्ग - 4था
शाळा - श्रीराम प्रा. शाळा





फिल्मे जो मैंने देखी है

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

लॉयन किंग मे होता है सिंबा नाम का बच्चा शेर
उसपे जब आया हाइना का खतरा
तब उसके पापा मुफासाने उसे बचाने की करी नही देर

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

टॉयस्टोरी मे अँडी के पास थे खिलौने बहुत सारे
पर सिद था जो उनको बहुत मारे

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

दंगल मे होती कुस्ती करने वाली लड़कीया दो
पर सुल्तान मे होता है सलमान खान बाक्सींग करता है

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

गाजी अटॅक मे थी भारत पाकिस्तान की लढाई
पर उस फिल्म मे पाकिस्तान मारता ज्यादा बढाई

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

वॉली मे थे दो रोबोट
एक था नया जिसका नाम था ईवी
एक था पुराना जिसका नाम था वाली

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है

तारजन द वंडर कार मे एक थी जादुई कार
जो चलती थी दिनरात अपने दुश्मनों को मारने बार-बार

ऐसी है फिल्मे जो मैंने देखी है.

नाम- आरव राऊत
कक्षा-४
स्कूल-श्री राम प्राथमिक
अमरावती महाराष्ट्र

पाण्यात राही मासे पोहायला

Date: 4/8/19

पाण्यात राही मासे पोहायला
पण जमीनिवरचे प्राणी जमिनिवर खेळायला
पण त्या दोघात आहे खुप फरक
मास्यांना असते कल्ला ८१.

पाण्यात राही मासे पोहायला
पण जमिनिवरचे प्राणी जमिनिवर खेळायला

जमिनिवर नाचे मयुर थुई, थुई, थुई, थुई, थुई
जर वाघोबा आला तर सगळे प्राणी गप्प होई
हनुमान चडे झाडावर भर, भर, भर, भर, भर
जर वाघोबा आला तर पकडता येईना झाडावर ८२.

पाण्यात राही मासे पोहायला
पण जमिनिवरचे प्राणी जमिनिवर खेळायला

काही प्राणी असेही असतात
जे राहु शकतो जमिनिवर आणी पाण्यातही
ते आहे जे चालु शकतात आडवे
ते खेकडे यांचे नाव ८३.

पाण्यात राही मासे पोहायला
पण जमिनिवरचे प्राणी जमिनिवर खेळायला

जे मासे मोठे त्यांचे कल्ले मोठे
ते जाऊ शकते दुर पण दुर कोठे ?
दुर म्हणजे नदी महासागरात
पण ते महासागर बनत होते कोठे ?८४.

पाण्यात राहि मासे पोहायला
पण जमिनिवरचे प्राणी जमिनिवर खेळायला

आठवतात मला ते पावसाचे दिवस, पाण्यात राही मासे पोहायला, आणि झाड़ (कविता), मला लाभलेले विविध शिक्षक।”

जैसे-जैसे उसके पढ़ने का दायरा बढ़ा वैसे-वैसे लिखने में भी सृजनात्मकता आती गई।

इसमें स्कूल के शिक्षकों का भी प्रोत्साहन मिला। अब आरव कक्षा 5 में पढ़ता है। हाल ही में उसने कोरोना तालाबन्दी के अनुभवों पर लिखा।

मेरे उपरोक्त अनुभवों को पढ़कर कुछ अभिभावकों और शिक्षकों के मन में यह सवाल उठ सकता है कि क्या इतना सब करना मुमकिन है, ख़ासतौर पर प्राथमिक स्कूलों के बच्चों के साथ जहाँ आमतौर पर पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त पठन सामग्री मुश्किल ही उपलब्ध होती है और पाठ्यक्रम को पूरा करने का दबाव भी निरन्तर बना रहता है? मैं अपने अनुभवों से कह सकता हूँ कि इस प्रकार के प्रयास करना सम्भव तो है, लेकिन इन्हें इसी प्रकार उपयोग में लाना बिलकुल ज़रूरी नहीं है। आप सभी अपने-अपने सन्दर्भों में उपलब्ध संसाधनों के मुताबिक़ भी अलग-अलग प्रकार की गतिविधियाँ कल्पित कर सकते हैं जो आपके बच्चों और विद्यार्थियों को भाषा सीखने में मदद करती हों। इस दृष्टि से देखने पर शायद बच्चों में भाषा के विकास, उनकी भाषा सीखने की प्रक्रिया और शिक्षण विधियों के प्रति हमारे नज़रिए और समझ को हमें पलटकर देखने की ज़रूरत अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि हम बच्चे के पढ़ने और लिखने में सहायक वातावरण निर्माण के प्रति सजग बनते हैं, भाषा शिक्षण में अर्थनिर्माण, पढ़ने-लिखने का चस्का विकसित करने और सृजनशीलता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो शायद हम अपने-अपने सन्दर्भों और संसाधनों की उपलब्धता के अनुसार समुचित शिक्षण प्रक्रियाओं को सोच पाएँगे। इससे

भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे देश में सभी बच्चों की मूलभूत शिक्षा में सुधार के लिए 'निपुण भारत' जैसे मिशन की परिकल्पना भी शिक्षकों, अभिभावकों, समुदाय, स्थानीय निकायों आदि की सक्रिय भूमिका के बिना नहीं की जा सकती है। इसलिए अभिभावकों और माता-पिता को भी बच्चों के सीखने-सिखाने से सम्बन्धित बातों के लिहाज़ से शिक्षित किया जाना चाहिए, ताकि हर बच्चा मूलभूत भाषा शिक्षण में निपुण हो सके।

सन्दर्भ

1. कृष्ण कुमार (1986), *बच्चे की भाषा एवं अध्यापक*, एनबीटी, नई दिल्ली

2. रुडाइन सिम्स बिशप (1990), *विन्डोज़, मिरर्स एंड स्लाइडिंग ग्लास डोर्स,* https://rb.gy/9hf4r

3. निमकर, मंजिरी (2009), *मुलांचे सृजनात्मक लिखाण,* ज्योत्स्ना प्रकाशन, पुणे

4. मुकुन्दा, कमला वी (2009), *स्कूल में आज तुमने क्या पूछा?*, एकलव्य प्रकाशन

5. बधेका, गिजुभाई (2006), *रंग बिरंगी मुर्गी,* गिजुभाई का गुलदस्ता–1, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत

गजेन्द्र राउत शिक्षा के क्षेत्र में पिछले 15 सालों से कार्यरत हैं। अभी लैंग्वेज एंड लर्निंग फ़ाउण्डेशन (नई दिल्ली) सेंट्रल अकादमिक टीम में प्रबन्धक (अकादमिक) के रूप में कार्य कर रहे हैं। इससे पहले दिगंतर, रूम टू रीड, टाटा ट्रस्ट्स जैसी प्रतिष्ठित संस्थाओं में काम किया है। लंदन यूनिवर्सिटी के इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन से एमए (कैरिकुलम, पेडागॉजी एंड असेसमेंट) किया है। वे फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन फ़ेलो हैं।

सम्पर्क : gsraut123@gmail.com

सामाजिक अध्ययन के शिक्षकों को याद करते हुए

अरविन्द सरदाना

1985-95 के दशक में मध्य प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र के स्कूलों में बेहतर सामाजिक अध्ययन शिक्षण की दिशा में एकलव्य द्वारा प्रयास किए जा रहे थे। इस लेख में दिए गए अनुभव उसी दौरान के हैं, लेकिन आज भी ये उतने ही माक़ूल हैं। लेखक अपने अनुभव से कहते हैं कि कई बार विस्तृत विवरण और सटीक तर्क देने के बाद भी लोग उन्हें आत्मसात नहीं करते क्योंकि वे उनकी मान्यताओं या निजी अनुभवों से टकराते हैं। यहाँ संवाद का खुलापन बनाए रखना ज़रूरी है। उसी प्रकार, चाहे वह संवेदनशील मुद्दे हों या कक्षा की शैली या स्कूल टीम का प्रयास, शिक्षकों के सार्थक अनुभव हमारे लिए दिक्सूचक बन सकते हैं और उनकी स्वतंत्रता को बढ़ाना हमारा लक्ष्य है। -सं.

पर मैं नहीं मानती

कई लम्हे ऐसे होते हैं जो यादगार बन जाते हैं। सामाजिक अध्ययन (एकलव्य) की कक्षा 6 का एक पाठ था– 'ध्रुवीय प्रदेश या टुंड्रा प्रदेश'। अस्सी का दशक और मालवा के एक गाँव का स्कूल। उस समय बच्चों का गाँव के बाहर का अनुभव बेहद सीमित होता था। आसपास के गाँव को छोड़कर उनका कहीं भी आना-जाना नहीं था। टुंड्रा प्रदेश के लोगों के जीवन पर पाठ चल रहा था और उनके खानपान पर चर्चा हो रही थी कि बिना अनाज के उनका जीवन कैसे चल सकता था! तभी एक बच्ची ने पूछा, "सर, बिलकुल खेती नहीं होती!" सर ने दोहराया, "खेती सम्भव ही नहीं है क्योंकि सालभर बर्फ़ जमी रहती है और गर्मी में भी नीचे की मिट्टी कठोर बनी रहती है। हाँ, उनके पास खाने को मछली और माँस उपलब्ध है।" बच्ची कुछ सोच में पड़ गई और असन्तुष्ट नज़र आई। फिर उसने कह ही दिया, "पर मैं नहीं मानती!" यह वाक़िया 1988 का है। ग्रामीण क्षेत्र के इस बच्ची के मन में बर्फ़ से ढँके टुंड्रा प्रदेश की छवि तो बन रही थी पर साथ-साथ उसके अपने अनुभवों से टकरा भी रही थी। मन में द्वन्द्व बना हुआ था। हिम्मत दिखाकर वह अपने शिक्षक से कह पाई कि वो उनकी बात नहीं मान सकती।

इसी प्रकार का एक क़िस्सा शिक्षकों की एक प्रशिक्षण कार्यशाला का है। कर (टैक्स) का पाठ चल रहा था। यहाँ एक प्रश्न था कि चार मित्रों ने मिलकर एक मकान 2000 रुपए महीने पर किराए पर लिया, तो वे किराया कैसे बाँट सकते हैं? शिक्षकों ने कहा, "वे बराबर-बराबर बाँट लेंगे।" "यदि यह जानकारी हो कि उनमें से दो मित्र 3000 रुपए कमाते हैं और अन्य दो 7000, तो क्या किराया बाँटने का कोई और बेहतर तरीक़ा हो सकता है?" इस सवाल पर आपस में बहुत चर्चा हुई। फिर एक शिक्षिका बोलीं, "हम समझ रहे हैं कि आप क्या इशारा कर रहे हो, पर हम नहीं मानते कि यह बराबरी का तरीक़ा है।"

यह दोनों वाक़िए दर्शाते हैं कि हमारी मान्यताएँ गहरी होती हैं। तर्क के सहारे हम पुनर्विचार कर सकते हैं, लेकिन तर्क की भी एक सीमा होती है। तार्किक बातचीत से हमारी मान्यताएँ शायद बदलें, शायद नहीं, या फिर



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

पाठ में बौद्ध व जैन धर्म की उत्पत्ति के बारे में बातचीत और रूढ़ियों पर सवाल हैं। इस पाठ की मदद से शिक्षक, उस समय की बात और आज के सन्दर्भ को आसानी से पिरो पाए और बच्चों के साथ बातचीत में विचारों में बदलाव की सम्भावनाओं को इंगित कर सके। एक बार उन्हीं के स्कूल में एक दलित पिता, जो स्कूल के अन्दर आने से इंकार कर रहे थे, को वे सम्मान स्वरूप अन्दर लेकर आए और कुर्सी पर बिठाकर उनकी समस्या सुनी। पालक सहज तो नहीं रहे, पर सभी बच्चों ने इसे देखा और समझा।

काफ़ी समय बाद बदलें। कोई भी अनुभव एकदम से बच्चे / इंसान आत्मसात कर लें, ऐसा नहीं होता। लेकिन यह ज़रूरी है कि बातचीत होती रहे और उसमें खुलापन हो। हमें इस खुलेपन की प्रेरणा और संवाद की सम्भावनाएँ शिक्षकों से मिलती रहीं। चाहे जाति व्यवस्था की चर्चा हो, न्याय की बात हो या फिर बेरोज़गारी की, उनके मत और मान्यताएँ अलग-अलग तो थीं पर संवाद होता रहा।

संवेदनशील मुद्दे और बदलाव की बातें

हमारे पाठों में कई संवेदनशील मुद्दों पर चर्चा के बहुत अवसर थे, पर यह ज़रूरी नहीं कि शिक्षक उन मुद्दों को उभारें और उनपर चर्चा करवाएँ। बहुत कुछ उनके विवेक, समझ और परिस्थिति पर निर्भर करता है। दलित समुदाय से आने वाले हमारे एक शिक्षक साथी बहुत सावधानी से चलते थे। उन्हें मालूम था कि सभी बच्चों की नज़र उनपर है। वे गाँव में ही रहते थे और कोई भी चूक बवाल खड़ा कर सकती थी। पर जब कक्षा 6 के पाठ 'नए प्रश्न, नए विचार' की बारी आई तो उन्हें खुलकर चर्चा करने का सन्दर्भ मिला। इस

एक अन्य अवलोकन के दौरान, कक्षा 8 में 'नए विचार और समाज सुधार की कोशिश' पाठ चल रहा था। लगभग उन्हीं दिनों दिल्ली के एक सहयोगी समूह से महिलाओं का दल हमारे यहाँ आया। उनके कुछ साथी कक्षा में चर्चा कर रहे थे। उन्होंने बच्चों से सीधे एक सवाल पूछा, "2-4 साल में आप में से किन-किन की शादी हो जाएगी?" पहले सब चुप रहे, फिर धीरे-धीरे लगभग सभी ने हाथ खड़े किए। "आप लड़के या लड़की में क्या-क्या गुण देखना चाहते हो?", उन्होंने पूछा। धीरे-धीरे जवाब आने लगे। लड़कियों का कहना था कि लड़का शराबी नहीं होना चाहिए। लड़कों का प्रश्न था, "क्या शादी के बाद पत्नी को बाहर काम करना चाहिए?" इसी तरह यह प्रश्न भी था, "सुन्दर किसे मानें?" परत-दर-परत खुलती गईं और छोटे-छोटे प्रश्न पूछते गए, मसलन, ऐसा क्यों, लड़का-लड़की में भेद क्यों?, आदि। बच्चों की भागीदारी और जिज्ञासा अपार थी। हमारे लिए पाठ की बातों को व्यवहार से जोड़ने का ये दिलचस्प और सहज अनुभव था।

उसी प्रकार एक शिक्षिका ने पाठ के साथ-साथ अपने बच्चों से मिलकर कक्षा के कुछ सार्वजनिक नियम बनाए। उदाहरण के लिए, यदि कोई किसी दूसरे को गाली दे तो उसे क्या सज़ा होनी चाहिए? नियम था कि उसे उस दिन कक्षा में भाग नहीं लेने दिया जाए। सालभर इस प्रकार की व्यवस्था को मिलकर निभाया। फिर यह सोचा गया कि यदि ऐसा परीक्षा के आसपास हो तब क्या करें! तय हुआ कि परीक्षा नज़दीक होने से बच्चे को नुक़सान न हो तो उसकी सज़ा माफ़ की जा सकती है। कई मुद्दों पर सार्वजनिक रूप से चर्चा की गई। इस तरह प्रजातंत्र की कल्पना को एक पुख़्ता सन्दर्भ दिया। और तो और, सवाल पूछने के लिए भी खुला माहौल दिया गया। बच्चों ने शिक्षिका से भी कुछ इस तरह के संवेदनशील सवाल पूछे कि आपने शादी क्यों नहीं की!

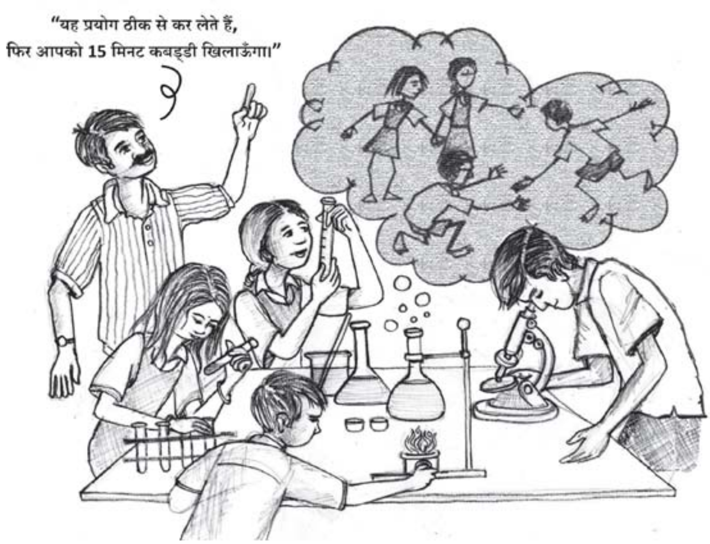
शिक्षकों की अलग-अलग शैली

जब मैं शुरू-शुरू में एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से जुड़ा तो मुझसे एक स्कूल की कक्षा नहीं सँभल रही थी। एक बच्चे ने मुझे छड़ी लाकर दी और कहा, "सर, इसका उपयोग करिए।" मैं झेंप गया और किसी तरह कक्षा को सँभाला। कुछ दिन बाद एक और स्कूल में जाने का मौक़ा आया। वहाँ सर की मेज़ पर छड़ी थी। मेरे मुँह से निकल गया, "आप इसका उपयोग क्यों करते हैं?" कक्षा के बाद सर ने मुझे समझाया, "अरविन्द भाई, आप समझ रहे हो कि मैं बच्चों को मारता हूँ, ऐसा नहीं है। यह मेरे लिए ऑर्केस्ट्रा का काम करती है। यहाँ बच्चों के अलग-अलग समूह हैं– एक से बढ़कर एक। किन्हें चुप रहना है, किन्हें बोलना है, किनपर ध्यान देना है, कब सभी को चुप रहना है, यह सभी काम इस ऑर्केस्ट्रा से होता है।" मैंने अन्य जगहों में छड़ी का दुरुपयोग देखा था पर उसके इस रूप की कल्पना नहीं की थी। उनकी कक्षा में बच्चों की भागीदारी बहुत अच्छी थी।

एक दिन मैंने सामाजिक अध्ययन के बग़ल में चल रही विज्ञान की कक्षा से शिक्षक को बोलते हुए सुना, "यह प्रयोग ठीक-से कर लेते हैं, फिर आपको 15 मिनट कबड्डी खिलाऊँगा।" सर कबड्डी के जाने-माने खिलाड़ी थे। मैंने बच्चों का इतना मंत्रमुग्ध और शान्त होकर प्रयोग करना पहले कभी नहीं देखा था।



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

इससे विपरीत दृश्य एक अन्य कक्षा में नज़र आया। सामाजिक अध्ययन की कक्षा 6 का पाठ था– 'जापान'। शिक्षिका कुछ बीच के सवाल करवा रही थीं। कक्षा का माहौल पूरी तरह मच्छी बाज़ार बना हुआ था। कुछ बच्चे दौड़-दौड़ कर शिक्षिका को अपना उत्तर दिखा रहे थे, कुछ आपस में चर्चा कर रहे थे, कुछ लिख रहे थे और कुछ पढ़ रहे थे। मुझे छोड़कर किसी को कोई परेशानी नहीं थी। यह शहर का एक बड़ा स्कूल था। मुझे प्रिंसिपल के राउंड की चिन्ता होने लगी। कुछ समय बाद शोरग़ुल थमा, शिक्षिका ने कक्षा के बीच में ही खड़े होकर पाठ को आगे बढ़ाया। मेरे एक वरिष्ठ साथी ने कहा, "इसी को सृजनात्मक शोर कहते हैं।"

हमारे ग्रामीण शाला के एक शिक्षक कक्षा 7 का पाठ 'वर्षा आई नदी बही' करवा रहे थे, तभी उनके मन में एक ख़्याल आया। उन्होंने पूछा, "शाला के सामने वाले नाले का पानी बहकर कहाँ जाता है?" इसका उत्तर आसानी से मिला। "फिर यह छोटी कालीसिंध नदी बहकर कहाँ जाती है?" इस सवाल पर बहस होने लगी क्योंकि यह इलाक़े की नदी तो थी पर बच्चों की जानकारी के बाहर। वे कुछ अन्दाज़ा लगा पा रहे थे। शिक्षक ने बातचीत चलने दी और फिर बताया कि छोटी नदी बड़ी कालीसिंध से मिल जाती है। आगे उन्होंने पूछा, "बड़ी कालीसिंध नदी कहाँ जाती है?" अब बच्चों को अन्दाज़ा नहीं था। शिक्षक ने किताब के नक़्शे में खोजने के लिए कहा। इधर-उधर पलटने के बाद बच्चों को नक़्शा मिला। उन्होंने चम्बल को ढूँढ़ निकाला। अब बात दूर जा रही थी क्योंकि यह विश्वास करना आसान नहीं था कि उनके सामने बहने वाले नाले का पानी चम्बल नदी में मिलता था। "क्या यह नदी किसी समुद्र में जाकर मिलती होगी?" कोई जवाब नहीं। "सूख जाएगी, शायद! आप ही बताओ"... जैसे उत्तर आए। इस स्कूल में सभी के पास *बृजवासी हिन्दी स्कूल एटलस* हुआ करती थी। सर ने कहा, "एटलस में खोजो।" लगभग पूरा पीरियड निकल रहा था पर बच्चों ने खोज निकाला। यह परिचित से अपरिचित की ओर ले जाने वाला अनूठा कार्य तो था ही, इस बात का एहसास भी था कि कैसे पृथ्वी पर पानी का तंत्र जुड़ा है!

स्कूल की टीम का प्रभाव

हमारे अनुभव में शिक्षकों के व्यक्तिगत प्रयास के अलावा स्कूल की सकारात्मक टीम का काफ़ी प्रभाव होता है। यह अलग-अलग सन्दर्भ में देखने को मिला। एक शाला में पुरानी पद्धति को लागू किया जाता था जहाँ कुछ वरिष्ठ शिक्षक बीच-बीच में गाँव का चक्कर लगाते और परिवारों से मिलते। सभी उन्हें पहचानते थे और

कई बार तो उन्होंने उसी गाँव की एक पीढ़ी को पढ़ाया भी होता था। इस दौरान बच्चों के बारे में, दाख़िला लेने, शाला त्यागने से रोकने, बीमारी या पारिवारिक समस्याओं, आदि सभी पर सहज रूप से बातचीत हो जाती। इससे बहुत फ़र्क़ पड़ता था।

इसके विपरीत, जहाँ टीम कमज़ोर होती वहाँ प्राथमिक शाला कक्षा 3 के अन्त में कई बच्चे स्कूल छोड़ देते। यह देखने में तो ड्रॉप आउट लगता, पर होता पुश आउट। इसका एक कारण यह था कि यह टीम चाहती थी कि कक्षा 4 और 5 में चुने हुए बच्चे ही हों। शिक्षा विभाग बोर्ड के रिज़ल्ट को ही मापदण्ड मानता था। उनकी नज़र में वही टीम (जिसे हम कमज़ोर कह रहे हैं) बेहतर होती जो कक्षा तीन के अन्त में उन बच्चों का स्कूल छुड़वा देती जिनके रिज़ल्ट अच्छे आने की उम्मीद नहीं होती थी।

इसके अलावा, अन्य रूपों में भी शिक्षा विभाग ने साइलेंट पुश आउट को वर्षों तक नज़र अन्दाज़ किया। इसका एक उदाहरण हमें एक ग्रामीण माध्यमिक शाला में दिखा। इस शाला की टीम बहुत सकारात्मक थी। टीम के प्रभाव से आसपास के गाँव के बच्चे इस शाला में दाख़िला लेकर अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहते थे। हमने देखा कि कुछ ही वर्षों में कक्षा 6 में बच्चों की संख्या 50 से बढ़कर 90-100 तक पहुँच गई। स्कूल एवं गाँव के लोगों ने नए शिक्षकों और अतिरिक्त सेक्शन बनाने की माँग की। लगातार दस वर्ष तक माँग करते रहने के बावजूद इस माँग पर कोई सुनवाई नहीं हुई। नतीजा वही, साइलेंट पुश आउट!

कक्षा 6 में 100 बच्चे तो हो गए, लेकिन शिक्षकों की कमी के कारण इन सभी बच्चों की पढ़ाई नहीं हो पाई। कुछ बच्चों ने कक्षा 6 के अन्त तक आते-आते स्कूल छोड़ दिया और कुछ ने 7 और 8 में। शिक्षा विभाग ने औपचारिक रूप



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

से स्कूल टीम बनाने को कभी महत्त्व नहीं दिया। जहाँ-जहाँ टीम मज़बूत थी, उसका कारण स्थानीय प्रयास थे।

स्कूल टीम के सकारात्मक होने पर जन सहयोग भी आसानी से मिलता और यह समर्थन केवल आर्थिक नहीं होता। एक ग्राम पंचायत ने शिक्षकों के लिए दो मकान बनाए ताकि कुछ शिक्षक अप-डाउन न करें। एक अन्य स्कूल टीम ने लड़कियों को प्रोत्साहन देने के लिए पालकों का यह सुझाव लागू किया कि लड़कियों को 10 मिनट पहले छोड़ दिया जाए ताकि वे स्कूल से गाँव के चौराहे तक सुरक्षित पहुँच जाएँ। उसी प्रकार लड़कियों की एक शाला ने बाउंड्री वॉल का निर्माण करवाया, नियमानुसार यूनिफ़ॉर्म एवं स्कॉलरशिप दी और टाइमटेबल लागू किया। इस शाला में लड़कियों की संख्या एक वर्ष के भीतर ही 80 से 400 हो गई। सकारात्मक स्कूल टीम में अपने विवेक से कई स्थानीय समस्याओं का हल निकालने की क्षमता होती है। पर यह बदलाव तब तक व्यापक नहीं हो सकता, जब तक कि स्कूल विभाग की सोच व कार्य-विधि में परिवर्तन नहीं होता।

अरविन्द सरदाना लम्बे समय से एकलव्य के सामाजिक अध्ययन समूह के सदस्य रहे हैं। आप एनसीईआरटी एवं कई राज्यों में पाठ्यक्रम निर्माण समिति के सदस्य रहे हैं।

सम्पर्क : arvindewas@gmail.com

सामाजिक विज्ञान शिक्षण का बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान के साथ सम्बन्ध

सुनीता शर्मा

कोविड के बाद जब बच्चे स्कूल आए तो वे स्कूल में सीखी कई बातें भूल चुके थे। भूलने में पढ़ने-लिखने के बुनियादी कौशल भी शामिल थे। लेखिका ने इस लेख में कोविड के बाद कक्षा 6 के बच्चों के साथ किए गए काम को प्रस्तुत किया है। वे बताती हैं कि उनकी कक्षा 6 में 60 में से सिर्फ़ 3 बच्चे ऐसे थे जो स्वतंत्र रूप से पढ़-लिख सकते थे। बाक़ी बच्चों के साथ उन्हें अलग तरह से शुरुआत करनी पड़ी। प्रश्न यह था कि यदि पढ़ना-लिखना नहीं आता तो सामाजिक विज्ञान को कैसे पढ़ें? उन्होंने सभी बच्चों की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें सीखने में मदद की और बच्चे जहाँ थे, उससे आगे भी बढ़े। -सं.

सन्दर्भ

कोविड के बाद स्कूल खुलने पर बच्चों के चेहरे शून्य जैसे प्रतीत होते थे। कई ऐसे बच्चे थे जिन्होंने इस महामारी के दौर में काफ़ी कुछ खोया था। किसी बच्चे के पिता का काम छिन गया था तो किसी ने अपने किसी परिजन या माता-पिता को खो दिया था। ऐसे बच्चे भी थे, जिन्होंने एक-एक सप्ताह तक भूख का मंज़र देखा था।

16 जून, 2022 को जब स्कूल खुले तो कक्षा 6 में कुल 120 बच्चों का दाख़िला हुआ। इसके A और B दो सेक्शन बनाए गए। एक सेक्शन में 60 बच्चे शामिल किए गए। इस कक्षा में पाठ्यपुस्तकों को केन्द्र में रखते हुए सामाजिक भावनात्मकता और कौशलों पर आधारित शिक्षण कार्य करने का प्रयास करना हमारा मुख्य लक्ष्य था।

इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए हम बच्चों से बातचीत करते रहे, कविता-कहानी सुनते-सुनाते रहे। नियमित तौर पर, 'अकड़ी-बकड़ी-तिकड़ी बम' और 'कोड़ा जमान खाए, पीछे देखे मार खाए' जैसे खेल खेलते रहे। बच्चे इससे सहज हुए, कक्षा में पूरे समय बैठने लगे और अपनी बातें कहने लगे। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए मैं बच्चों से बातचीत के अंशों को ब्लैकबोर्ड पर लिखने लगी। इस लिखे हुए को बच्चों के साथ मिलकर मैं भी पढ़ती और बच्चों को भी ब्लैकबोर्ड पर पढ़वाने लगी। बच्चों से सवाल पूछने की शुरू हुई यह प्रक्रिया लगभग 15 दिन तक चली। 15 दिन बाद कुछ और चीज़ें कीं। मसलन, कक्षा की शुरुआत अन्त्याक्षरी, कविता, कहानी या फिर खेल से करना और उसे ही पढ़ने-लिखने का आधार बनाना। बच्चे जो कविता सुनाते, हम उसे बोर्ड पर लिख देते और फिर बारी-बारी से सबको पढ़वाते। इन सारी प्रक्रियाओं से यह अन्दाज़ा होने लगा कि बच्चों को पढ़ने में बहुत दिक़्क़त हो रही है।

जुलाई के दूसरे सप्ताह तक बच्चों के बारे में मेरा एक स्तर का आकलन हो गया था। 60 में से सिर्फ़ 3 बच्चे ही ऐसे थे, जिनको पढ़ना आ रहा था। बोर्ड पर मैं जो लिखती थी, ये बच्चे उसे पढ़ पाते थे। 15 बच्चे हिज्जेकर पढ़ पाते थे। बाक़ी 42 बच्चे एकदम शुरुआती स्थान पर थे और इनमें से 2 ने तो पहले सप्ताह में ही स्कूल आना बन्द कर दिया था। शेष 40 बच्चे भी बेहद अनियमित तौर



IETPCD

अध्याय 1

परस्पर निर्भरता

मनुष्य समाज में ही पलता–बढ़ता है और अपनी जरूरतों को पूरा करता है। समाज के बाहर रहकर वह अपनी बुद्धि का विकास भी नहीं कर सकता। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है।

निर्जन टापू पर मंगल

एक बार एक जलयान में कुछ लोग विदेश यात्रा पर निकले। लगभग एक सप्ताह बाद जब वे समुद्र में बहुत दूर निकल गए, तब अचानक भारी तूफान आया। तूफान में जलयान समुद्र में डूब गया। साथ ही कई यात्री भी डूबकर मर गए, परंतु इनमें से एक व्यक्ति तैरना जानता था इसलिए वह बच गया। उसका नाम था मंगल।

मंगल कई घंटे तैरने के बाद एक निर्जन तट पर पहुँचा। वहाँ दूर–दूर तक उसे कोई गाँव या शहर नहीं मिला। वास्तव में वह समुद्र के बीच में एक टापू था। महीनों तक उसे इस निर्जन स्थान पर कंदमूल और फल खाकर अकेले रहना पड़ा। अकेले रहते–रहते वह पागल–सा हो गया। उसके कपड़े फट गए। वह बीमार भी पड़ गया। वह दिनभर समुद्र के किनारे अकेले घूमता रहता।

हमने देखा कि सिर्फ एक परिवार या गाँव के लोग ही एक दूसरे पर निर्भर नहीं है। बल्कि गाँव–शहर, राज्य तथा देश भी एक दूसरे पर निर्भर हैं। इन सबको एक दूसरे के साथ मिलकर जीवन बिताने के लिए कुछ तौर तरीके, नियम–कानून आदि मानने होते हैं।

पर कक्षा में आते थे। ये बच्चे ऐसे थे जिनको न तो अपना नाम लिखना आता था, न ही वे अपने नाम का कोई अक्षर पहचान पाते थे। यह चुनौती मुझे पहाड़ जैसी लगी, क्योंकि मैं सोच रही थी कि जब भाषा में यह स्थिति है तो सामाजिक विज्ञान एवं अँग्रेज़ी में क्या स्थिति होगी! सवाल यह था कि ऐसे में सामाजिक विज्ञान का शिक्षण कैसे किया जाएगा?

कार्यशाला से मिली राह

इसी बीच, मैं जुलाई 2022 में आयोजित 'नवा जतन' कार्यशाला में चार दिन शामिल हुई। कार्यशाला में इसपर विस्तार से चर्चा हुई कि भाषा विषय में स्तरानुसार शिक्षण की विधि क्या हो सकती है। एक ही कक्षा में मौजूद अलग-अलग क्षमताएँ रखने वाले बच्चों के साथ कैसे काम कर सकते हैं, यह मैं समझ पाई। मैं पहले से ही भाषा के माध्यम से सामाजिक विज्ञान की विषय-वस्तु को कक्षा शिक्षण में ले जाना चाहती थी लेकिन, जैसा कि मैंने पहले कहा, एक कक्षा में 60 बच्चे हैं जिनमें 40 ऐसे हैं जो पढ़ना-लिखना ही नहीं जानते (हालाँकि उन्होंने पहले कुछ-कुछ सीखा था, पर दो साल में वे काफ़ी कुछ भूल गए थे) तो उनके साथ कैसे काम करें, यह चुनौती थी!

सामाजिक विज्ञान के पाठ पर काम

जुलाई-अगस्त के महीनों में काम करने के बाद मैंने विषय को केन्द्र में रखते हुए बच्चों की बुनियादी दक्षताओं पर काम शुरू किया। मैंने सामाजिक विज्ञान विषय की कक्षा 6 की नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक के पाठ

'परस्पर निर्भरता और सार्वजनिक सम्पत्तियाँ' को अपने काम के लिए चुना। मैंने ख़ुद तीन-चार बार इस पाठ को पढ़ा और यह लिंक तलाशना शुरू किया कि भाषा के साथ इस पाठ का संयोजन कैसे हो सकता है। अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन की एक सदस्य के सहयोग से मैंने इस पाठयोजना का निर्माण किया। इस पाठयोजना को हमने सप्ताह-केन्द्रित बनाया क्योंकि जुलाई और अगस्त के काम से मैं यह समझ गई थी कि विषय-वस्तु की समझ बनाने से लेकर, लिखने-पढ़ने के कौशल तक पहुँचने में समय और धैर्य दोनों की आवश्यकता होती है।

मेरा उद्देश्य था कि बच्चे इस पाठ के माध्यम से पाठ में शामिल मुद्दे के विश्लेषण में जाएँ, अपने तर्क प्रस्तुत करें, अपने परिवेश और अनुभवों से इस पाठ को जोड़ें और पढ़ना-लिखना भी सीखें।



बच्चों के स्तरानुसार समूह का डेटा एवं कॉपियों की फ़ोटो

सामाजिक विज्ञान शिक्षण में भाषा शिक्षण की पैडागॉजी का इस्तेमाल करते हुए मैंने कक्षा में काम करना शुरू किया। हमने अपनी पहले की कक्षा में देखा था कि बच्चे कहानी सुनने और सुनाने में बहुत रुचि लेते हैं। इससे कक्षा में पूरे समय उनका जुड़ाव बना रहता है, वे आसानी से विषय-वस्तु समझ जाते हैं और मुद्दे को अपने जीवन के अनुभवों से जोड़ते हैं। इसलिए हमने भी अपनी कक्षा में विषय की शुरुआत के लिए कहानी को ही आधार बनाया।

हमारी कोशिश थी कि बच्चों को समय-समय पर स्तरवार समूह में काम करने के साथ-साथ मिक्स समूहों (पीयर समूह) में काम करने के अवसर दिए जाएँ, जिससे बच्चे आपस में अपने दूसरे साथियों के अनुभवों से भी सीख सकें। साथ ही, हम पाठ्यपुस्तक की विषय-वस्तु को बच्चों के आसपास के परिवेश से जोड़कर सवाल निर्माण करने में सहयोग देने और बच्चों को ख़ुद से सीखने के लिए प्रेरित करने की कोशिश कर रहे थे। हमारा यह भी प्रयास था कि कक्षा में ऐसे अवसर अधिक-से-अधिक पैदा किए जाएँ जहाँ बच्चे शिक्षक और बच्चों के बीच की भय जैसी धारणा को तोड़कर सहज होकर सीख सकें।

इसके लिए हमने कुछ गतिविधियों की योजना बनाई।

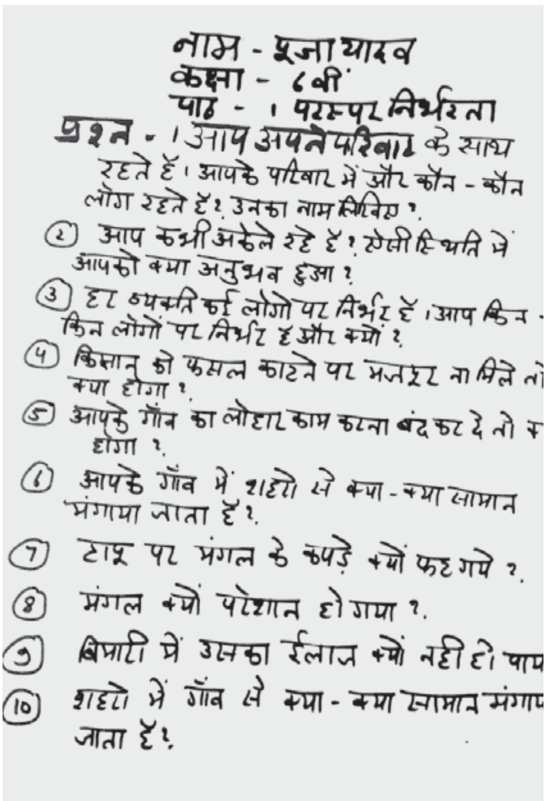
गतिविधियाँ

1. बच्चों को किताब के टेक्स्ट के अतिरिक्त सामाजिक सन्दर्भों के दूसरे टेक्स्ट के साथ गुज़रने के अवसर पैदा करना। मसलन, न्यूज़पेपर को सिर्फ़ देखना और जो ख़बर अच्छी लगी उसे मौखिक ही साझा करना, पुस्तकालय की किताबों के बड़े-बड़े चित्रों पर अपनी राय व्यक्त करना, किसी मुद्दे को चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करना, आदि।

2. हर एक दिन किताब का वही पाठ खोलकर उसे देखना, उसके चित्रों का अवलोकन करना और अनुमान लगाकर अपनी कहानी बोलना।

एक गतिविधि के बारे में विस्तार से चर्चा

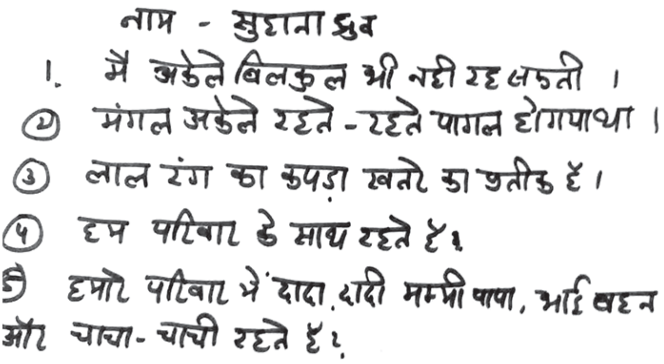
पाठ की शुरुआत कहानी के द्वारा की गई। हमने सबसे पहले बच्चों को मंगल की कहानी सुनाई जो एक टापू पर फँस गया था। यह कहानी तीन दिन चली। फिर तीन दिन तक शुरुआती स्तर के बच्चों, माने जो बिलकुल पढ़ नहीं पा रहे थे, को एक-एक कर मौखिक कहानी सुनाने का मौक़ा दिया। दूसरे स्तर के उन बच्चों, जो हिज्जे करके पढ़ते थे, को सुनी हुई कहानी के आधार पर बिना किताब देखे कहानी लिखने को कहा। तीसरे स्तर के बच्चों को सुनी हुई कहानी पर नाटक बनाने का काम दिया।


नाम - पूजा यादव
कक्षा - 6वी
पाठ - 1 परस्पर निर्भरता
प्रश्न - 1 आप अपने परिवार के साथ रहते हैं। आपके परिवार में और कौन - कौन लोग रहते हैं? उनका नाम लिखिए?
(2) आप कभी अकेले रहे हैं? ऐसी स्थिति में आपको क्या अनुभव हुआ?
(3) हर व्यक्ति कई लोगों पर निर्भर है। आप किन - किन लोगों पर निर्भर हैं और क्यों?
(4) किसान को फसल काटने पर मजदूर ना मिले तो क्या होगा?
(5) आपके गाँव का लोहार काम करना बंद कर दे तो क होगा?
(6) आपके गाँव में शहरों से क्या - क्या सामान मंगाया जाता है?
(7) टापू पर मंगल के कपड़े क्यों फट गये?
(8) मंगल क्यों परेशान हो गया?
(9) बिमारी में उसका ईलाज क्यों नहीं हो पाय
(10) शहरों में गाँव से क्या - क्या सामान मंगाय जाता है?

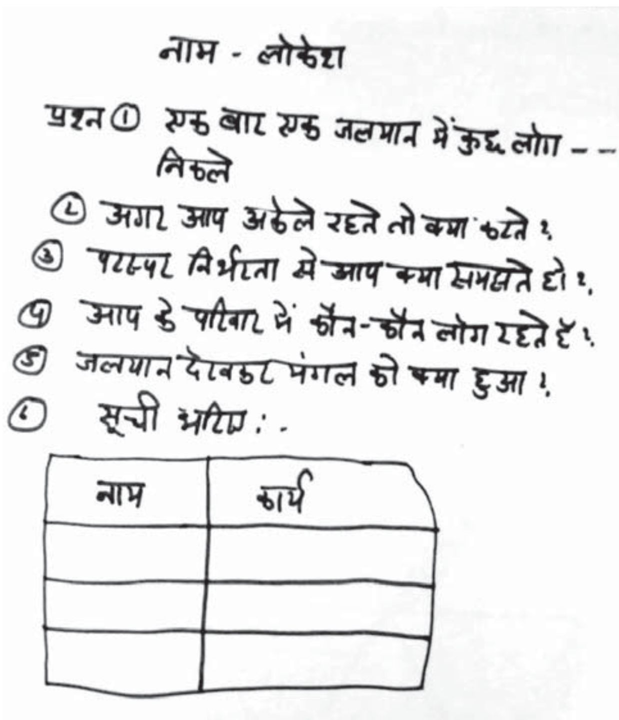
चौथे दिन हमने दूसरे स्तर के बच्चों द्वारा लिखी कहानी को तीसरे स्तर के बच्चों को पढ़ने और उसपर नाटक बनाने के लिए दे दिया। शुरुआती स्तर के जो बच्चे हमारे साथ मौखिक कहानी सुना रहे थे, उन्हें दूसरे स्तर के बच्चों द्वारा लिखी गई कहानियाँ दी गईं। इनसे कहा गया कि इनमें से अनुमान लगाकर कुछ शब्दों को पहचानें और साथ ही कहानी को चित्र के माध्यम से बनाने की कोशिश करें। लगभग 6-7 बच्चे 2 से 4 शब्द प्रिंट के रूप में पहचान पाए। इन शब्दों में मंगल, टापू आदि शामिल थे। फिर हमने इन तीनों अलग-अलग समूहों को मिलाकर नए समूह बना दिए और कहा कि 'म' और 'ट' से इस कहानी में जितने शब्द आए हैं, उन्हें पहचानकर अपने समूह के सभी बच्चों को बार-बार बताओ और समझाओ। कक्षा के अन्त में जब हमने शुरुआती स्तर के बच्चों को किताब से शब्द पहचानने का काम दिया तो 17 बच्चे 5 से 6 शब्द पहचान पाए।

अगले तीन दिन की कक्षा के लिए हमने तय किया कि शुरुआती स्तर के बच्चों के साथ पढ़ना सिखाने के लिए ध्वनि व शब्द के जुड़ाव पर काम करेंगे। दूसरे स्तर के बच्चों के साथ उनके आसपास की किसी घटना का ज़िक्र करते हुए शब्द से वाक्य और वाक्य से अनुच्छेद बनाने व तीसरे स्तर के बच्चों के साथ स्वतंत्र लेखन पर काम किया जाएगा। हमने अपनी तय योजना के अनुसार काम शुरू किया। हमने बच्चों के अनुभवों पर सामूहिक चर्चा की। इस दौरान एक बच्चे ने बताया कि वह मेले में खो गया था और काफ़ी मुश्किलों से अपने माता-पिता से मिल पाया था। इसी तरह अन्य बच्चों ने भी अपने-अपने अनुभव साझा किए। अगले दिन हमने मंगल की कहानी से थोड़ा आगे बढ़कर एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता को चर्चा में शामिल कर लिया। इसे हमने इस तरह से शामिल किया कि हमारे घर में चावल हैं लेकिन दाल नहीं, तो दाल कहाँ से लाएँगे। बच्चों ने

कहा, दुकान से। दुकानवाला कहाँ से लाएगा, बाज़ार से। बाज़ारवाला कहाँ से लाएगा, किसान से जो दाल उगाता है। हमारे गाँव के किसान दाल उगाते हैं तो दाल है, लेकिन गन्ना नहीं उगाते। हम चीनी कहाँ से लाएँगे, शहर से जहाँ चीनी दूसरी जगह से आती होगी। ये सारी बातें उनसे हुईं।


नाम - सुहाना ध्रुव
1. मैं अकेले बिलकुल भी नहीं रह सकती।
2. मंगल अकेले रहते-रहते पागल होगया था।
3. लाल रंग का कपड़ा खतरे का प्रतीक है।
4. हम परिवार के साथ रहते है।
5. हमारे परिवार में दादा दादी मम्मी पापा, भाई बहन और चाचा-चाची रहते है।

फिर बच्चों को किताब खोलकर आगे की कहानी को देखने का काम दिया। जो 3 बच्चे पढ़ सकते थे उन्हें आगे की कहानी को पढ़कर छत्तीसगढ़ में पैदा होने वाली वस्तुओं की सूची बनाने का काम दिया, मध्य स्तर के बच्चों को अपने गाँव की बाड़ी और आसपास के खेतों में होने वाली फ़सलों की सूची बनाने का काम दिया। शुरुआती स्तर के बच्चों के साथ कहानी में आगे दिए गए चित्रों पर चर्चा के लिए मैं समूह में बैठी। मैं बच्चों को चित्र दिखाती और पूछती कि चित्र में क्या हो रहा है या चित्र देखकर अनुमान लगाओ कि इस गाड़ी में क्या जा रहा होगा। अगले दिन हमने सभी बच्चों के अनुभवों को कक्षा में सामूहिक रूप से प्रस्तुत करवाया। इस छह दिन की कक्षा के बाद मैंने पाया कि शुरुआती स्तर के बच्चे चित्र को दिखा-दिखा कर अपनी बात को काफ़ी सहजता और आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुत कर रहे थे। पाठ तो सभी बच्चे समझ गए थे लेकिन शुरुआती स्तर के बच्चों के साथ किया जाने वाला पढ़ने-लिखने का काम अभी शुरू भी नहीं हुआ था। बाक़ी के दो समूह (जिनमें 18 बच्चे थे) काफ़ी आगे बढ़ गए थे। मैंने अगले सप्ताह के लिए कोई नया पाठ नहीं चुना और इसी पाठ पर कुछ और टास्क करने की योजना बनाई।


नाम - लोकेश
प्रश्न ① एक बार एक जलयान में कुछ लोग - - निकले
② अगर आप अकेले रहते तो क्या करते?
③ परस्पर निर्भरता से आप क्या समझते हो?
④ आप के परिवार में कौन-कौन लोग रहते हैं?
⑤ जलयान देखकर मंगल को क्या हुआ?
⑥ सूची भरिए :-

नाम	कार्य

इस योजना में शामिल था कि कक्षा स्तर के बच्चे अपने राज्य की दूसरे राज्य के साथ लेन-देन की प्रक्रिया और सम्बन्ध को समझें, मध्य स्तर के सवाल बनाना सीखें और शुरुआती स्तर के बच्चे ध्वनि के आधार पर वर्णों को पहचानें, उनसे शब्द का निर्माण करना सीखें, न सिर्फ़ मौखिक बल्कि अपनी टूटी-

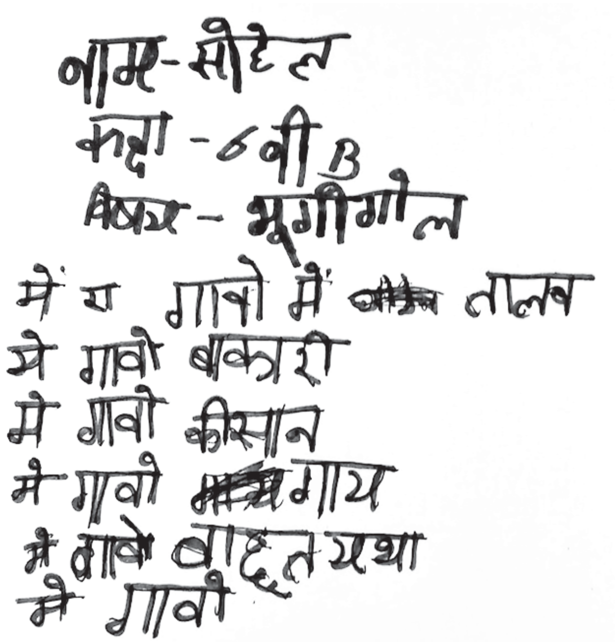
फूटी मात्राओं की ग़लतियों के साथ लिखना भी शुरू करें।

बच्चों के बनाए सवाल और उनके जवाबों के उदाहरण

इस लिहाज़ से हमने कुछ और गतिविधियों की योजना बनाई। इनमें पाठ से प्रतिदिन इमला बोलना और पाठ से सम्बन्धित परिवार, पड़ोसी, भाई-बहन जैसे शब्दों पर अपने मन से लिखने के अवसर देना शामिल था। जो बच्चे बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान स्तर के थे वे उससे सम्बन्धित चित्र बनाते और उनके नाम लिखते। नाम में यदि त्रुटियाँ होतीं तो मैं उसका अभ्यास करवाती। त्रुटियों वाले शब्दों को ब्लैकबोर्ड पर लिख देती, बच्चे उनका अभ्यास करते। वे अपनी त्रुटियों को पहचानते भी और स्वयं से सुधारते भी।

ग्रेड स्तर और ग्रेड स्तर से नीचे के बच्चे जो स्वतंत्र रूप से लिखते, उसे कक्षा में चस्पा किया जाता और वे बच्चे बड़े समूह में उसे पढ़कर सुनाते। इससे बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान वाले बच्चों को सुनने का मौक़ा मिलता। मेरा ध्यान रहता कि बुनियादी साक्षरता और संख्या ज्ञान वाले बच्चे पढ़ने वाले विषय पर ध्यान दे रहे हैं कि नहीं। मैं बार-बार बच्चों का ध्यान केन्द्रित करती थी। इस प्रक्रिया में कुछ बच्चे उसे प्रिंट के रूप में पढ़ने भी लगे। आगे बच्चों ने जिन शब्दों को प्रिंट के रूप में पढ़ना सीखा था, उन्हीं शब्दों से उन्हें वर्ण / मात्रा सिखाने का कार्य किया गया।

फ़िलहाल कक्षा 6 के सेक्शन A के 60 में से सिर्फ़ 6 बच्चे ऐसे हैं जिन्हें अभी भी पढ़ने में दिक़्क़त हो रही है और लिखने में मात्राओं की ग़लतियाँ बहुत ज़्यादा होती हैं। 42 बच्चे पैराग्राफ़ को धाराप्रवाह पढ़ पाते हैं और किसी शब्द को लेकर एक पैराग्राफ़ तक लिख भी देते हैं, लेकिन पुष्पांजलि, भार्गव, नीलकण्ठ, प्रतीक्षा जैसे कठिन शब्दों को पढ़ने और लिखने में उनको अभी भी थोड़ी दिक़्क़त होती है। 12 बच्चे ऐसे हैं जो काफ़ी बेहतर हैं। वे भाषा में पढ़ने-लिखने के साथ-साथ सामाजिक विज्ञान विषय में भी अपनी समझ को मॉडल के द्वारा गतिविधि में नाटक के माध्यम से प्रस्तुत कर पाते हैं।



पहले से मेरा यह विश्वास था कि अगर बच्चे भाषा पढ़ना-लिखना सीख जाएँगे तो उनके लिए कोई भी विषय को पढ़ना आसान हो सकता है। मैंने जब काम की शुरुआत की तो प्रधानाध्यापिका का पूरा सहयोग था, लेकिन मेरे दूसरे साथी कहते कि मैडम विषय का सिलेबस कब पूरा करोगी। अभी मासिक टेस्ट होगा तो बच्चे सामाजिक विज्ञान में कविताएँ लिखेंगे क्या? कभी-कभी बहुत

ख़राब लगता था, लेकिन सन्तोष यह था कि कहने दो। मैं तो अपने-आप में सन्तुष्ट हूँ क्योंकि वास्तविकता को साथ लेकर चल रही हूँ, न कि एक शिक्षक होने के फ़र्ज़ से इतर बच्चों के ऊपर अपनी मर्ज़ी थोप रही हूँ। अन्ततः, मेरा विश्वास जीता और बच्चे सामाजिक विज्ञान में 'इतिहास के स्रोत' और दूसरे पाठ अपने-आप पढ़ने लगे। जब नवम्बर में 'परस्पर निर्भरता' पाठ पर हमने काम किया तब सिलेबस के आधार पर हम बहुत पीछे थे। यह मानते हुए गतिविधि के तौर पर सवाल निर्माण को इस शिक्षण विधि में शामिल किया था। इसके हमें काफ़ी बेहतर परिणाम देखने को मिले। इसमें सवाल बच्चों ने ख़ुद से बनाए और उनका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। आज मैं देखती हूँ, बच्चों के चेहरे पर एक अजीब ख़ुशी होती है जब वह सामाजिक विज्ञान की कक्षा में शामिल होते हैं। बच्चों ने सामाजिक विज्ञान के दूसरे पाठों को लेकर तमाम तरह के प्रोजेक्ट कार्य किए। 'इतिहास के स्रोत' पाठ के लिए गाँव का सर्वे कार्य किया, ख़ुद से सवाल बनाए एवं उनका विश्लेषण किया। 'जल संरक्षण' के प्रोजेक्ट में मॉडल के द्वारा प्रस्तुति की।

निष्कर्ष

सामाजिक विज्ञान विषय को अगर बच्चों के अनुभव एवं उनके परिवेश से जोड़ा जाए तो यह बच्चों को समाज के बारे में अपनी राय बनाने के अवसर देता है। फिर यह विषय बच्चों के अपने जीवन से जुड़ जाता है जिस कारण बच्चे इन सामाजिक पहलुओं पर आसानी से नाटक आदि बनाकर आत्मविश्वास के साथ जोड़ते हैं। वे एक समाज की परिकल्पना गढ़ने में सफल होते हैं और उसके सकारात्मक एवं नकारात्मक पहलुओं का विश्लेषण भी कर पाते हैं। लेकिन इस जगह तक पहुँचने के लिए केन्द्र में बच्चों के बुनियादी पढ़ने-लिखने के कौशल को रखा जाना चाहिए। कक्षा की ऐसी प्रक्रिया से बच्चे साथी बच्चों से सीखते हैं, एक दूसरे का सहयोग करते हैं, अपनी बात को आत्मविश्वास के साथ रखने लगते हैं और अन्य बच्चों को भी प्रेरित करते हैं।

सुनीता शर्मा पूर्व माध्यमिक शाला चगोराभाटा पूर्व में अँग्रेज़ी विषय की शिक्षिका हैं। आप इतिहास में स्नातकोत्तर हैं और वर्ष 1998 से बच्चों को पढ़ा रही हैं। बच्चों के सीखने की चिन्ताओं को लेकर आप काफ़ी सक्रिय रहती हैं।

सम्पर्क : sunitavivek1976@gmail.com

बच्चे को जानना-समझना और सिखाने की तरकीब

अभिषेक कुमार द्विवेदी

हर कक्षा में कुछ ऐसे बच्चे होते हैं जिनके बारे में यह मान लिया जाता है कि वे सीख नहीं सकते, उनका दिमाग़ काम नहीं करता, हमेशा शैतानी करते हैं, दूसरे बच्चों को पढ़ने नहीं देते, उन्हें स्कूल की भाषा नहीं आती, आदि। यह लेख ऐसे ही तमग़ों से नवाज़े गए एक बच्चे के साथ किए गए काम के बारे में है। लेख दर्शाता है कि बच्चे के बारे में हमारी मान्यताएँ, उसकी सीखने की क्षमता में हमारा (शिक्षक, अन्य वयस्क और साथी) विश्वास कैसे उसे प्रभावित करता है। साथ ही यह भी कि बच्चे को जानने-समझने से सीखने में हम उसकी मदद कर सकते हैं। लेख इस बात पर भी प्रश्न उठाता है कि बच्चों को अलग-अलग तरह के तमग़ों से नवाज़ना, माने एक 'लेबल' दे देना क्या सही है! -सं.

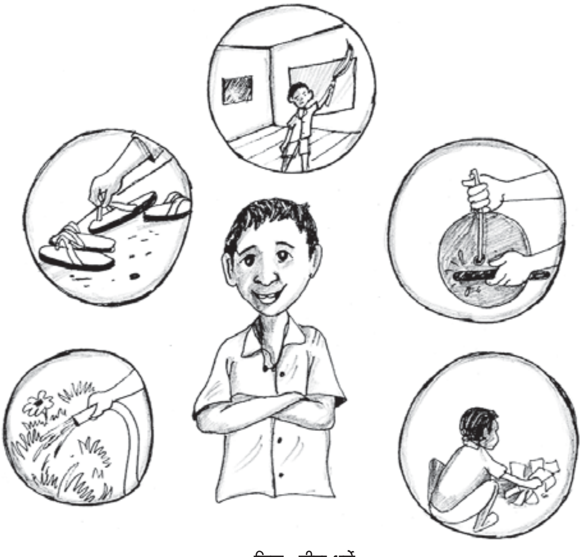
हुँसमुख 9 साल का है और अभी कक्षा 3 में पढ़ रहा है। वह स्कूल आने में काफ़ी नियमित है, लेकिन पढ़ने-लिखने और समझने में उसका स्तर अपेक्षित स्तर से काफ़ी कम है। कक्षा में बोलते समय वह घर की भाषा का ही प्रयोग करता है। मैं उसकी बात सुनता हूँ, लेकिन शुरू में मुझे उसकी बात समझने के लिए दूसरे बच्चों की मदद लेनी पड़ती थी। ऐसा भी नहीं था कि वह बहुत कम बात करता हो या ज़्यादातर शान्त रहे, बल्कि इसके उलट वह कक्षा में अत्यन्त सक्रिय लेकिन अव्यवस्थित रहता। उसकी हरक़तें बाक़ी बच्चों और इस तरह पूरी कक्षा को, जो कुछ भी चल रहा होता, उससे भटका देतीं। जैसे, कभी वह सीटी बजाता या पतली आवाज़ में रोने का नाटक करता और कभी चुपके से या किसी बहाने से दूसरी कक्षा में चला जाता। पढ़ाई के अलावा वह बाक़ी सारी चीज़ें करता लेकिन उनमें भी वह एक ही चीज़ से कभी बँधा नहीं रहता। जैसे, अगर उसको किसी गणितीय खेल में सम्मिलित किया जाता या सुनी हुई कहानी के बारे में चित्र बनाने के लिए कहा जाता तो वह केवल थोड़ी देर ही उसमें अपना मन लगा पाता। कोई



चित्र : हीरा धुर्वे

भी गतिविधि उसे ज़्यादा देर तक नहीं रोक सकती थी, भटकाव में ही उसे मज़ा आता। मुझे ऐसा लगने लगा था कि स्कूल उसके लिए पढ़ने से ज़्यादा दोस्तों के साथ समय बिताने की एक जगह थी, जहाँ वह अपनी कक्षा के 12-13 बच्चों के अलावा दूसरी कक्षाओं के बच्चों के साथ भी बात करने या समय बिताने के मौक़े तलाशता रहता।

स्कूल की प्रार्थना सभा की नीरस और कक्षा की बोझिल प्रक्रिया में शामिल होने की बजाय उसे कमरों की सफ़ाई करना, बच्चों की चप्पलों को जमाना, मैदान की बढ़ी घास उखाड़ना, पौधों पर पानी डालना, स्कूल की घण्टी लगाना और मैदान में फैले काग़ज़ के टुकड़ों को इकट्ठा करना ज़्यादा पसन्द है। मुझे यह समझ आया कि ये काम उसे अपेक्षाकृत आसान और रुचिकर लगते हैं।


चित्र : हीरा धुर्वे

कक्षा में नियमित रूप से जाते हुए मैं धीरे-धीरे उसे समझने लगा था। तब मैंने उसे भी गतिविधियों में शामिल करने के प्रयास किए। शुरुआत में, मैं किसी तरह बहुत कम समय के लिए उसे बाक़ी बच्चों के साथ अपनी गणित की कक्षा में शामिल करता। इस दौरान जब नम्बर कार्ड को उठाकर उसका नाम बताने, उसके लिए तीली बण्डल जमाने और नम्बरों की ट्रेन बनाने की उसकी बारी आती तो वह दूसरे बच्चों की ओर देखता और उनकी तरफ़ से कोई उत्तर आने तक इन्तज़ार करता। ऐसे मामलों में वह ख़ुद से ज़्यादा दूसरों पर विश्वास करता और उनके बताए उत्तर को सही मानता। कई बार तो वह ख़ुद के लिखे या बताए गए सही जवाब को भी किसी और के द्वारा बताए उत्तर से बदल देता। इसी तरह वह हर काम में दूसरे की नक़ल करता। दूसरा काम जो वह करने को कहता, वह था, "सर, मुझे गिनती लिखने के लिए दे दीजिए या हिन्दी की किताब से एक पेज नक़ल छापने के लिए।" ये वो काम थे जिन्हें वह हमेशा करना चाहता। अकसर वह दीवार पर लिखी गिनतियाँ या किताब से वाक्य अपनी कॉपी में लिख लाता, जिन्हें उसे समझने या पढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

कक्षा में गणित के काम से ऊबने से बचने के लिए कहानी सुनाई जाती थी। इस दौरान मैंने स्कूल में उपलब्ध यूनिसेफ़ द्वारा दी गई *मीना सीरीज़* की कहानियों के अतिरिक्त *गुलीवर की यात्रा, महारथी, मीना को स्कूल क्यों छोड़ना पड़ा, पहला घर, बस्तर का मोगली* जैसी पुस्तकें काम में लीं। कहानियों की थीम के अनुसार मैं ज़्यादातर वो बातें करता जो बच्चों के अनुभव और घर से जुड़ी होतीं। मसलन, किसी ने कभी कोई सपना देखा है, अच्छे दोस्त कैसे बनते हैं, हाथी ने बिल्ली को क्यों बचाया होगा, किसी जानवर का बच्चा कभी आपने पाला है, आपका स्कूल आने का मन कब नहीं करता है, आदि। इस दौरान चर्चा में दूसरे बच्चों के साथ हँसमुख भी अपनी बातें बोलचाल की भाषा में रखता, और इसी बातचीत से मुझे उसकी रुचियों और दोस्तों के बारे में पता चला।

कक्षा में सिर्फ़ उसी से ज़्यादा बात करना सम्भव नहीं था। मैंने कभी-कभी इंटरवल के समय हँसमुख से इस बारे में बात की कि स्कूल से जाने के बाद वह घर में क्या-क्या करता है और उसे क्या करना पसन्द है। अपने बारे में वह ज़्यादा कुछ नहीं बताता था। जब मैंने अपने बारे में उसे बताया कि मैं स्कूल से जाने के बाद क्या करता हूँ और मुझे क्या पसन्द है, तब ही उसने अपने बारे में बताया कि उसके घर में कौन-कौन है, घर जाकर वह घर का काम करता है, साइकिल चलाता है और शाम को दोस्तों के साथ खेलता भी है। और बात करने पर उसने बताया कि वह चाय भी बना लेता है। उसने मुझे चाय बनाने की विधि भी बताई। मैं जब भी यह पूछता कि उसे स्कूल में क्या अच्छा



चित्र : हीरा धुर्वे

लगता है और वह पढ़कर क्या बनना चाहता है, इसके बारे में वह बहुत अस्पष्ट और बनावटी उत्तर देता। हालाँकि, अब कुछ वाक्य वह हिन्दी में भी बोलता क्योंकि अकेले बात करते समय उसे ही अपनी बात मुझे समझानी होती थी।

थोड़ा सहज होने के बाद दूसरे बच्चों को बण्डल बनाते, मोतीमाला में काम करते और फिर ग़लती करते देखकर अब वह भी अपने-आप इन गतिविधियों में शामिल होने लगा था, लेकिन अभी भी वह यह सब दूसरे बच्चों को देखकर ही करना चाह रहा था। एक बार जब वह गिनमाला में गिने हुए 38 मोतियों के सामने नम्बर कार्ड लगाने की कोशिश कर रहा था तो उसने दो बार असफल प्रयास के बाद कहा कि उसका दिमाग़ काम नहीं करता और वह अब नहीं करेगा। यह हाल तब था जब उसे कितनी भी ग़लतियाँ करने की छूट दी गई थी, बशर्ते हर ग़लती के बाद उसे यह ज़रूर सुनना पड़ता था कि उसके द्वारा 38 की जगह लगाया गया 18 का कार्ड क्यों और कैसे ग़लत है। उसने कहा कि वह ख़ुद की चुनी संख्या के सामने कार्ड लगाएगा ताकि वह केवल 10 से 20 के बीच की ही कोई संख्या चुनकर सही कार्ड लगा सके। ऐसा कई और मौक़ों पर भी हुआ और इससे मुझे लगा कि वह सीखने के विरुद्ध था क्योंकि नई चीज़ सीखना उसके दिमाग़ को संकट में डालने जैसा था।

स्कूल में बाक़ी शिक्षकों और कक्षा के अन्य बच्चों का व्यवहार पढ़ाई और सीखने के मामले में हँसमुख के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहता। वे कहते, "सर, ये ऐसा ही है। इसका दिमाग़ थोड़ा कमज़ोर है।" ये वही बात थी जो हँसमुख स्वयं भी मुझसे कहता। यानी, वह भी मान चुका था कि उसका दिमाग़ कमज़ोर है या काम नहीं करता है। इस तरह दूसरे सहपाठी भी अपनी भरी हुई वर्कबुक या परीक्षा की कॉपी उसको दे देते ताकि वह भी नक़ल कर ले।

पारिवारिक पृष्ठभूमि की बात करें तो हँसमुख अपनी बड़ी बहन के घर में कुल चार सदस्यों के बीच पाँचवाँ सदस्य है। मम्मी-पापा



चित्र : हीरा धुर्वे

जो भी वह पढ़ता है उसको याद नहीं रहता। मैंने उससे पूछा कि अगर वह चाहे तो मैं समझने और याद रखने में उसकी मदद कर सकता हूँ। वह तैयार हो गया और फिर मैंने कुछ दिन लंच के दौरान उसके साथ अकेले ही ठोस वस्तुओं और गिनमाला की मदद से संख्याओं की पहचान और मात्रा प्रदर्शन पर काम किया। वह अपनी कॉपी की बजाय फ़र्श पर ही चाक से लिखता। अकेले काम करने के दौरान उसपर ग़लत प्रयास करने के लिए सहपाठियों के उपहास का दबाव नहीं रहता था, और इस तरह उसने पहले 30 और फिर 50 तक की संख्याओं की मात्रात्मक पहचान के साथ उनको प्रदर्शित करना सीख लिया। उसके लिए यह एक बड़ी उपलब्धि थी, इसलिए उसे शाबाशी भी मिलती रही।

का साथ छोटी उम्र में ही छूट गया था, अब वह अपनी बड़ी बहन को ही मम्मी कहता है। घर में बड़ी बहन की दो बेटियाँ हैं जिनमें से एक मेडिकल की पढ़ाई के लिए बाहर रहती है और दूसरी घर में ही रहकर 12वीं कक्षा में पढ़ती है। घर में ही छोटी-सी एक मेडिकल शॉप भी है।

मुझे उसके व्यवहार के कुछ बिन्दुओं के पीछे का कारण पता चलने लगा था। जैसे, कक्षा के बाक़ी बच्चों और उसके बीच में लर्निंग गैप था जिससे पढ़ाई जाने वाली चीज़ें उसके लिए ज़्यादा चुनौतीपूर्ण थीं, कक्षा के बच्चों और शिक्षकों की उसके प्रति यह धारणा कि 'वह सीख नहीं सकता' और इसलिए उसको प्रॉब्लम सॉल्विंग या उसपर अभ्यास के अवसर न देना, घर में अच्छा माहौल होने के बाद भी उसकी अकादमिक प्रगति के प्रति घरवालों की उदासीनता, आदि। सारे बच्चे उसे 'मामा' कहकर क्यों बुलाते थे, अब ये भी मुझे समझ आया। हालाँकि, मैंने उनसे ऐसा न करने के लिए भी कहा था। इंटरवल के दौरान ही मैंने एक दिन उससे बात की कि वह ऐसा क्यों सोचता है कि उसका दिमाग़ काम नहीं करता! उसने बताया कि उसको समझ में नहीं आता है, और

जैसे ही वह इन संख्याओं को जोड़ने की संक्रिया पर काम करने लगा, उसमें आत्मविश्वास आने लगा और कक्षा में उसकी सक्रियता भी बढ़ने लगी थी। जब मैं त्रिविमीय गणितीय आकृतियों से सम्बन्धित आसपास की वस्तुओं के बारे में पूछ रहा था तो उसने बताया कि 'पैक डीजे' (साउंड बॉक्स) और 'पैसे की गड्डी' भी घनाभ के आकार की होती है। उसके ये उदाहरण बाक़ी बच्चों से बिलकुल अलग थे। अब वह अपने काम को दूसरे बच्चों से भी साझा करने लगा और बच्चे भी स्वीकारने लगे कि वह सीख सकता है। अब जब भी मैं हँसमुख से सवाल करता तो वे ख़ुद को जवाब देने से रोकते। अब तो मैंने सबसे इसपर बात की कि किसी को भी सिर्फ़ उत्तर बताने की बजाय 'उत्तर कैसे आया' यह बताना होगा तभी वह मददगार है। हँसमुख के

अलावा दूसरे बच्चों के साथ भी ज़रूरत पड़ने पर उनके गृह-कार्य पर अलग से चर्चा करना कक्षा की प्रक्रिया में शामिल है और सभी बच्चे इस बात को समझते हैं।

हँसमुख कक्षा में विवेक की हर बात मानता है और वह उसका अच्छा दोस्त भी है। ऐसा शायद इसलिए भी कि उसका सीखने का स्तर काफ़ी अच्छा है और इसका फ़ायदा हँसमुख को शिक्षकों द्वारा दिए सारे कामों को निपटाने में मिलता आ रहा है। विवेक को यह आसानी से समझ आ जाता था कि हँसमुख ने ग़लती कहाँ और कैसे कर दी। मसलन, विवेक को यह भी पता था कि हँसमुख हमेशा 27 को 17 कहता है या कई बार गिनते समय वह 37 को गिनना भूल जाता है। इसीलिए जब मैं कक्षा में दो-दो के समूह बनाता तो उन दोनों को साथ में लेता। इसके अलावा कभी-कभी जब मैं कक्षा में दूसरे बच्चों के साथ व्यस्त रहता हूँ, विवेक, हँसमुख की मदद करता है। हालाँकि, बीच-बीच में वह भी धैर्य खो देता है, ख़ासकर तब, जब उसके बार-बार समझाने पर भी हँसमुख एक ही ग़लती को दोहराता है, लेकिन इस सबसे उसको मेरे काम की कठिनाई ज़रूर समझ आती है और हँसमुख भी उससे कभी नाराज़ नहीं होता है।

हँसमुख के साथ मेरा काम अभी भी जारी है, लेकिन अब उसे कक्षा में अलग से समय देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। प्रायः वह घर के लिए दिए गए काम को करके लाता है और कक्षा में पहले से अधिक सक्रियता से शामिल होता है। उसके व्यवहार में परिवर्तन हुआ है और उसमें अब सीखने का एक आत्मविश्वास आया है। अब वह ख़ुद से दो अंकों की संख्याओं को प्रदर्शित कर रहा है और उनमें संक्रियाओं (जोड़ व घटाव) को पहले ठोस वस्तुओं की मदद से और अब बिना उनके कर पा रहा है। बोलचाल की भाषा में भी अब वह कुछ वाक्य हिन्दी के इस्तेमाल कर रहा है।

अभिषेक द्विवेदी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से भौतिकशास्त्र से स्नातक और 2022 में परास्नातक किया है। पिछले दस महीनों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन टोंक (राजस्थान) में एसोसिएट के रूप में कार्यरत हैं। वे प्राथमिक विद्यालय में गणित विषय में शिक्षण कार्य कर रहे हैं। इस दौरान उन्होंने गणित विषय की शिक्षण विधियों के अतिरिक्त बच्चों की सामाजिक, आर्थिक एवं भावनात्मक पृष्ठभूमि और कक्षा में उसके प्रभावों को समझने की कोशिश की है।

सम्पर्क : abhishek.dwivedi@azimpremjifoundation.org

पढ़ने की घण्टी ने बदली विद्यालय की छटा

श्याम सुंदर

स्कूल में बच्चों को पढ़ना सिखाने के लिए किए गए प्रयासों का विवरण इस लेख में है। लेखक बताते हैं कि बहुत-से बच्चों को न तो घर पर प्रिंट-रिच माहौल मिल पाता है, न ही स्कूल में। इसलिए उन्हें पढ़ना और लिखना सीखने में मुश्किलें आती हैं। इस मुश्किल से निपटने के लिए उन्होंने अपने स्कूल में हर दिन एक कालांश सिर्फ़ पढ़ना सीखने के लिए रखा। नियमित रूप से पढ़ते रहने से उनके स्कूल के लगभग सभी बच्चे पढ़ना सीख गए। -सं.

बच्चे को विद्यालय एवं घर, दोनों ही जगह पढ़ने का वातावरण चाहिए। ऐसा वातावरण बच्चों को किताबों की ओर आकर्षित करता है। लेकिन इसके लिए हमारे समाज में बहुत सकारात्मक प्रयास नहीं किए जाते। ऐसे बहुत कम परिवार होंगे जो बच्चों को बेहतर गुणवत्ता का प्रिंट-रिच माहौल दे पाते हैं। इसके साथ ही अच्छी गुणवत्ता का बाल साहित्य महँगा और हाशिए के परिवारों की पहुँच से दूर है। सरकारी विद्यालयों में अधिकांश बच्चे ग़रीब और वंचित तबक़ों से आते हैं, ऐसे में विद्यालय ही एकमात्र स्थान बच जाता है जो बच्चों को अच्छे बाल साहित्य से परिचित करा सकता है।

विद्यालय में किताबें तो होती हैं, पर सवाल यह उठता है कि बच्चों को इन किताबों से कैसे जोड़ा जाए और उनमें पढ़ने की आदत का विकास कैसे हो। शिक्षकों के लिए आयोजित एक कार्यशाला के दौरान मेरे मन में यह विचार आया कि क्यों न विद्यालय में ही पढ़ने का अतिरिक्त समय बच्चों को दिया जाए, जहाँ वे बिना किसी दबाव व रोक-टोक के पुस्तकालय से किताब उठाएँ और पढ़ने का प्रयास करें। वे किताबों को पलटें, चित्र देखें, उनसे बात करें, किताबों को जिएँ और उनसे खेलें। सवाल था, ऐसा कौन-सा समय हो जब बच्चों का पूरा ध्यान उन किताबों में हो?

जैसे बच्चे मोबाइल फ़ोन में गेम खेलते वक़्त ध्यानमग्न हो जाते हैं, भूख, प्यास सब भूल जाते हैं, क्या इसी तरह किताबों के साथ उनका जुड़ाव हो सकता है? यह सवाल बहुत महत्त्वाकांक्षी था। कहना जितना आसान होता है करना उतना ही कठिन, क्योंकि पाठ्यक्रम पूरा करने, अधिकारियों के निरीक्षण, अभिभावकों की अपेक्षा का दबाव, आदि के बीच कुछ अलग करते हुए ऐसा रचनाधर्मी प्रयोग करना वास्तव में कठिन है। इसका एक दूसरा पहलू भी है। आए दिन समाचार पत्रों में शिक्षकों पर आरोप-प्रत्यारोप लगते रहते हैं कि अधिकांश बच्चों को पढ़ना नहीं आ रहा है और भाषा-गणित की आरम्भिक दक्षताओं से बच्चे वंचित हैं।

इस उधेड़-बुन के चलते हुए हमने काम शुरू कर दिया। इस समय स्कूल में बच्चों की कुल संख्या 35 थी। कैसे इन बच्चों को अच्छा पाठक बनाया जाए और इस प्रयास में विद्यालय की क्या भूमिका हो, यह एक चुनौती थी। इस दिशा में पहली बाधा स्कूल में ऐसा समय निर्धारित करने की थी, जब बच्चों का पूरा

ध्यान उन किताबों में हो। इसे ध्यान में रखकर विद्यालय में मध्याह्न भोजन के पश्चात का 30 से 35 मिनट तक का समय बच्चों के स्वतंत्र पठन के लिए तय किया गया। इस वक़्त बच्चे प्रफुल्लित मन से कक्षा में प्रवेश करते हैं। इस कालांश को 'पढ़ने की घण्टी' नाम दिया गया।

पढ़ने की घण्टी की शुरुआत के समय विद्यालय में 200-300 कहानी की किताबें उपलब्ध थीं। इन्हें बच्चों ने कभी भी देखा नहीं था, क्योंकि सारी किताबें एक अलमारी में बन्द थीं। अलमारी में बन्द पड़ी इन किताबों को नन्हे हाथों के स्पर्श का इन्तज़ार था। हमने किताबों को बाहर निकालकर उनका स्तरानुसार चयन किया, और अलमारी साफ़कर उनको अलग-अलग ख़ानों में रख दिया। बड़े बच्चों का एक समूह बनाकर उन्हें एक रजिस्टर दिया गया। कुछ नियम बनाए गए कि किताब कौन ले जा रहा है, कब तक अपने पास रखेगा, पढ़ने के बाद क्या करेंगे, आदि। यह भी तय किया गया कि किसी एक तय दिन बच्चे बारी-बारी से अपनी पढ़ी किताबों से कुछ अंश साझा करेंगे।

पढ़ने की घण्टी के लिए शुरुआत में ऐसी रोचक किताबों रखी गईं, जो पाठ्यक्रम से हटकर थीं, उनमें रंग-बिरंगे चित्र थे, बच्चों के स्तर के अनुसार उनकी लिखावट थी, साथ ही उनमें चित्र ज़्यादा और लिखा कम था। फिर ऐसी किताबें रखी गईं, जिनके शीर्षक सरल और उनके रोज़मर्रा के जीवन से जुड़े हों और उनमें चित्रों के साथ एक-दो पंक्तियाँ लिखी हों। उदाहरण के लिए, *लड्डू, जलेबी, भूत, नटखट गिलहरी* आदि।

बच्चे किताबों को देखकर चुनने लगे, उन्हें पलटने लगे और पढ़ने की कोशिश करने लगे। पर साथ में एक चुनौती से हमें और पार पाना था। पढ़ने की व्यवस्था कैसे बनाई जाए? हमने सोचा कि एक बार बच्चों की दिनचर्या में किताबें आ जाएँ, फिर उनको व्यवस्थित तरीक़े से गोल घेरे में, या जिसमें भी वे सहज महसूस करें, बैठाया जाए ताकि एक बच्चा पढ़े तो दूसरे को बाधा न पहुँचे। कुछ दिनों तक बच्चों के साथ गोल घेरे में बैठकर पढ़ने का ख़ुद भी अभ्यास किया। बच्चों के साथ बैठकर पढ़ने से पढ़ने की एक व्यवस्था बनने लगी। अब शोरग़ुल कम हो रहा था। इस तरह पढ़ने की घण्टी धीरे-धीरे उनकी दिनचर्या का हिस्सा हो गई। बच्चे पढ़ने में रुचि लेने लगे और एक दूसरे को देखकर पढ़ने के लिए प्रेरित होने लगे। कहीं पर कोई बच्चा अटकता तो उसका साथी उसकी मदद भी करता। यह एक मज़ेदार अनुभव था। धीरे-धीरे चर्चा के भी कुछ और नियम बनते चले गए। मसलन, किताब का शीर्षक बताना, उस किताब में किसकी कहानी है, कहानी आपको कैसी लगी और क्यों, किसी पढ़ी हुई कहानी को अपनी बोली में सुनाना, आदि।

यह सब तो चल रहा था, पर साथ में कुछ चुनौतियाँ ऐसी भी थीं जिनका समाधान नहीं मिल पा रहा था। कुछ बच्चे ऐसे थे जिन्हें देखकर लगता था कि शायद उन्हें कभी पढ़ना



चित्र : हीरा धुर्वे

न आए। हालाँकि, ऐसे बच्चों की संख्या 2-3 ही थी, लेकिन उनके साथ भी यह गतिविधि अविरल चलती रही। दो साल तक हमने सतत रूप से नहीं पढ़ पाने वाले उन बच्चों पर काम किया। उन्हें कभी ख़ुद कहानी या कविता पढ़कर सुनाई तो कभी उनके साथियों के साथ उन्हें पढ़ने के लिए बैठाया। उनको आपस में कहानियों पर चर्चा के लिए प्रोत्साहित भी किया। आख़िरकार हमें सफलता मिली। वे बच्चे, जिन्हें देखकर लगता था कि इन्हें कभी पढ़ना नहीं आएगा, अब आनन्द के साथ पढ़ने लगे थे। एक शिक्षक के लिए यह दृश्य कितना सुखद हो सकता है, इसे तो आप महसूस कर ही सकते हैं। बच्चे बार-बार, अलग-अलग किताबें माँगते और पढ़ते-पढ़ते उनमें खो जाते थे। उनकी पढ़ने की गति अब बेहतर हो गई थी। उन्हें देखकर लगा और समझ आया कि बच्चों पर विश्वास से काम करके ही सफलता मिल सकती है, दूसरा कोई विकल्प नहीं है। हमारे प्रयास सहृदय हों, भयरहित और धैर्यपूर्ण हों तो कोई भी बच्चा ऐसा नहीं होगा, जो पढ़ने-लिखने के आधारभूत कौशलों तक न पहुँच पाए।

इसी तरह दो वर्षों तक काम करते हुए ऐसी स्थिति बन चुकी थी कि 99 फ़ीसदी बच्चे पढ़ने के मूलभूत कौशलों से वाक़िफ़ हो चुके थे। कक्षा 1 से 5 तक के अधिकांश बच्चे बिना अटके अर्थ के साथ पढ़ना जान गए थे। इस बीच कुछ समस्याएँ भी आईं, जिन्होंने हमें चकित कर दिया था। कई अभिभावक अपने बच्चों से सिर्फ़ इसलिए सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि उन्हें वर्णमाला क्रम याद नहीं था, लेकिन ये सभी बच्चे किसी भी किताब से कोई अनुच्छेद या पृष्ठ आसानी से पढ़ पा रहे थे। एक अभिभावक ने अपने बच्चे को इसलिए विद्यालय से निकाल लिया क्योंकि उसे न तो अ, आ, क, ख, ग, आदि याद थे, न ही वर्णमाला का क्रम, लेकिन बच्चा पूरी किताब पढ़ने में सक्षम था। बहरहाल, इन सब कठिनाइयों के बावजूद हमने अपना कार्य जारी रखा।

विद्यालय में अब ऐसा वातावरण बन चुका था, जहाँ बच्चे बारी-बारी से किताब बाँटते और पढ़ते थे। विद्यालय में इस वातावरण का प्रभाव कैसा पड़ा, इसकी बानगी चाँदनी है। चाँदनी जन्म से ही दृष्टिबाधित थी। वह रोज़ विद्यालय आती और अपने सारे काम ख़ुद करती। पढ़ने के इस वातावरण में वह भी ढल चुकी थी। वह दूसरे बच्चों की तरह किताब पकड़ती, उन्हें पलटती, दूसरों को पढ़ते हुए सुनती और ताली बजाती। बार-बार यह करने के बाद अब वह भी किताब निकालने के लिए हमसे कहने लगी। हम भी उसे मना नहीं करते। उन किताबों से उसका कोई लेना-देना नहीं था और न ही विद्यालय उसे पढ़ना सिखाने में समर्थ था। तकनीकी रूप से हमारे लिए यह सम्भव भी नहीं था। लेकिन



चित्र : हीरा धुर्वे

वह रोज़ किताब निकालती, दूसरों को सुनती और दोहराती। ऐसा करने से उसे कई कहानियाँ याद हो गई थीं। जब भी उसकी बारी आती, वह कहानी सुनाती। इससे चाँदनी के अन्दर एक आत्मविश्वास भी बना। यह पढ़ने की घण्टी के वातावरण का ही प्रभाव था। हमें कुछ और ऐसी किताबें भी मिल गईं जिनकी कार्यशैली सहज और रोचक थी। अब हमारे पास स्रोतों की बिलकुल भी कमी नहीं थी।



चित्र : हीरा धुर्वे

धीरे-धीरे काफ़ी मशक़्क़त के बाद बच्चे अब व्यवस्थित रूप से किताबों को घर भी ले जा सकते थे और उन्हें नियमित रूप से वापस भी ले आते थे। वे अब ख़ुद किताबों का चेक-इन और चेक-आउट करते। उन्हें अब किताबों का खोने, फटने का डर भी नहीं था। इस दौरान हमने एक और प्रक्रिया अपनाई। हमने प्रार्थना सभा में दैनिक समाचार पत्रों को क्रमवार पढ़वाना शुरू किया। इससे बच्चों को नए एवं कठिन शब्दों को पढ़ने का अभ्यास हुआ और उनके शब्दकोश में वृद्धि हुई। थोड़े प्रोत्साहन के बाद बच्चों ने स्वयं विद्यालय का अख़बार निकालना शुरू किया जिसे 'साप्ताहिक बाल अख़बार' नाम दिया गया। बाद में दीवार पत्रिका भी इस कार्य का हिस्सा बनी। इसमें सभी बच्चों की भागीदारी तो नहीं थी किन्तु उन्हें पढ़ने की इच्छा सभी को थी।

हमारे पास कुछ ऐसे बच्चे भी थे, जो चित्रों को देखकर स्वयं कहानी बनाते और सुनाते थे। उनमें से एक बच्चा था जिसे पढ़ना तो नहीं आता था, लेकिन वह अपने मन से चित्रों को देखकर कहानी बनाता था। जब हमें इस बात का पता चला तो हमने उसे केवल चित्र वाली किताबें दीं। उसने उन्हें देखकर चित्रों के क्रम से एक कहानी बनाकर सुनाई। यह घटना वास्तव में आश्चर्यचकित करने वाली थी। केवल चित्रों को पढ़ना सच में अलग तरीक़े से किताब पढ़ना था।

शिक्षकों ने इस प्रक्रिया में काफ़ी मदद की जिससे बच्चे बिना असहज हुए ख़ुशी-ख़ुशी किताबों के साथ रह सके। हम बच्चों के साथ ख़ुद भी कहानी पढ़ते, जहाँ वे अटकते, वहाँ उनकी मदद करते, उन्हें बारी-बारी से पढ़ने को कहते और शाबाशी देते। कई बार सबसे अच्छी कहानी सुनाने की प्रतियोगिता का भी आयोजन हुआ। इस प्रक्रिया में हमने स्कूल की एक 'बिग बुक' भी तैयार की।

पढ़ने के सही मायने यही हैं कि हम शब्दों, वाक्यों को समझकर पढ़ें। पढ़ने की घण्टी ने इस प्रक्रिया तक पहुँचने में बच्चों की बहुत मदद की। हमने यह प्रयोग स्कूल में पढ़ाई जा रही अन्य भाषाओं के लिए भी किया और यह कोशिश आज भी जारी है...

श्याम सुंदर आर्या को शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने का 10 वर्ष का अनुभव है। आपने स्नातकोत्तर के साथ ही विशेष डीएलएड एवं बीएड किया है। उन्हें बच्चों के साथ नए-नए काम करना और उनकी शिक्षा के बारे में लिखना अच्छा लगता है। वर्तमान में राजकीय प्राथमिक विद्यालय, व्हीलकुलवान, ब्लॉक गरुड़, बागेश्वर में प्रधान अध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।

सम्पर्क : shyamarya.uk@gmail.com

कविता शिक्षण और भाषाई कौशल

प्रतिभा शर्मा

यह कहा तो जाता है कि बच्चों को कविता पसन्द होती है और कक्षा में गीत-कविता होनी ही चाहिए, लेकिन इसके बावजूद कक्षाओं में कविता गाना, कविता गाते हुए झूमना, उसपर बच्चों को बातचीत करने देना, आदि नहीं किया जाता। लेखिका ने अपनी कक्षा 6 में नियमित रूप से कविता पर काम किया। उन्होंने बच्चों को कविता गाने, उसपर झूमने और बातचीत करने की आज़ादी दी। धीरे-धीरे बच्चों से बातचीत करते हुए वे पाठ्यक्रम में वर्णित भाषा शिक्षण के उद्देश्यों को इसमें शामिल करती गईं। इस पूरे काम में उन्होंने पाया कि कविताओं से बच्चे सक्रिय हुए, सीखना-सिखाना आसान हुआ और कक्षा भी व्यवस्थित हो गई। -सं.

कक्षा में शिक्षण के दौरान कभी-कभी बच्चों को देखकर लगता था कि वे सीखने में तल्लीन नहीं हैं। कक्षा-कक्ष की गतिविधि से अगर बच्चे असन्तुष्ट हों, तब तुरन्त ही कुछ रोचक तरीक़ा खोजना अनिवार्य हो जाता है। बच्चे शिक्षण गतिविधि और शिक्षण प्रक्रिया का हिस्सा न बनें तो सीखना कैसे हो? इसी उलझन को सुलझाने की कोशिश में, मैंने एक दिन कक्षा में कविता को जगह दी, जिससे बच्चे शान्त होकर मेरी बात सुन सकें। इस दिन की कक्षा में कविता गायन का उद्देश्य कक्षा को व्यवस्थित और रोचक बनाना मात्र था। सभी कविता वाचन करते आनन्द से झूम रहे थे। कुछ तो बार-बार कविता की पंक्तियाँ दोहराते और साथ-साथ नृत्य भी करने लगते। उन्हें चुप रहने या कक्षा में व्यवस्थित रहने को कहने की ज़रूरत नहीं थी। इस कक्षा से मुझे संकेत मिला कि कक्षा का प्रारम्भ कविता से किया जाए। आनन्द के लिए रोज़ कविता गाकर बच्चे मुझसे और कविताओं से जुड़ने लगे थे। हालाँकि वे पूरी तरह सुर में न थे, पर कविता गायन और हाव-भाव के साथ उसकी प्रस्तुति ने सभी का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। यों रोज़ काम करने के ढंग में बदलाव के साथ हँसते-गाते, उछल-कूद करते कक्षा की शुरुआत की जाने लगी।

हाँ, शुरुआत में लक्ष्य कविता का आनन्द लेना ही था, लेकिन फिर कविता के ज़रिए भाषा शिक्षण पर भी काम किया जाने लगा। कक्षा 6 के इन विद्यार्थियों को कविता शिक्षण करवाते समय आनन्द के साथ ही सीखने के इन प्रतिफलों को प्राप्त करने का लक्ष्य मेरे सामने था :

(1) बच्चे कविता को लयबद्ध ढंग से पढ़ सकें;

(2) उनमें सौन्दर्यानुभूति और रचनात्मकता को प्रेरित किया जा सके;

(3) वे कविता पर समझ के साथ चर्चा भी कर सकें;

(4) इस प्रक्रिया में उनके शब्दकोश का विस्तार हो;

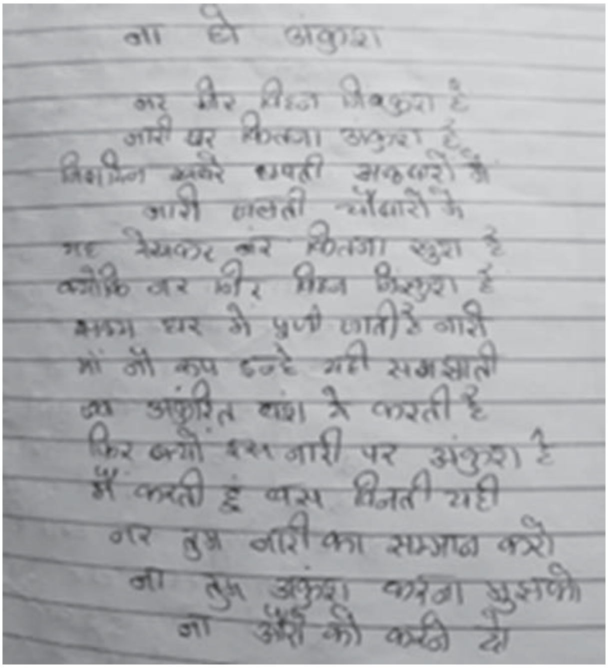
(5) उनमें प्रश्न निर्माण और उत्तर कौशल का विकास हो;

(6) सकारात्मक सोच विकसित हो; और

(7) बच्चों के सोचने-समझने और चिन्तन करने का आधार विकसित हो सके।

शिक्षण के इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर मैंने आगे की योजना बनाई।

शुरू के 2-3 दिन तक सिर्फ़ कविता का आनन्द लेने का ही दौर चला। जब मुझे लगने लगा कि कक्षा में बच्चे पहले से अधिक सक्रिय और व्यवस्थित हैं, हम अपनी योजना के अगले चरणों की तरफ़ बढ़े। अगले दिन मैंने *बचपन एक समंदर* नामक कविता संग्रह से एक कविता का चयन कर कक्षा में इसे एक प्रकरण के रूप में बरतना तय किया। दूसरी कविताओं का चयन पुस्तकालय और कविता कोश से किया गया। कविताएँ ऐसी चुनी गईं जो परिवेशीय समझ, प्रकृति, नैतिक मूल्य, चिन्तन और सरल अन्वेषण पर आधारित हों। मसलन, श्रीनाथ सिंह की 'इनसे सीखो', हनुमंत नायडू की 'नीला अम्बर', सुलेमान ख़तीब की 'काटो खेताँ काटो रे', प्रदीप शुक्ल की 'गाँव-शहर', आदि। ये प्रकृति और परिवेश से भावात्मक जुड़ाव बनाने एवं सकारात्मक सोच के साथ चिन्तन करने का आधार देने वाली कविताएँ थीं।



लय-ताल के लिए कक्षा में रखी मेज़ को सुरीले अन्दाज़ में बजाने की कोशिश के साथ कक्षा की शुरुआत तो होने ही लगी थी। अब इन कविताओं पर बच्चों से मौखिक बातचीत करके उनकी समझ, विचार और तर्कों को बाहर लाने की रणनीति बनाई गई। लेकिन अब भी कक्षा में कुछ कमी थी, और वो थी, बच्चों के सीखने के प्रति मेरी जड़ धारणा। हालाँकि, बच्चे अब सवालों के जवाब देने में ज़्यादा उत्साहित नज़र आ रहे थे। मैं अचम्भित थी, क्योंकि मैं यह समझ नहीं पा रही थी कि वे बच्चे, जिनको स्तरानुसार पढ़कर समझने में समय लगता है, जो कक्षा में अपने साथियों को ध्यान से पढ़ने नहीं देते, और जिन्हें मैं शैतान मानती थी, कविता कैसे समझ रहे हैं? आज मेरी सोच से उलट ही हो रहा था। इसीलिए कुछ दिनों बाद कविता में उनकी दिलचस्पी को देखकर मैंने उनके सामने एक शर्त रखी। शर्त यह थी कि कविता से बनी समझ को लिखकर भी दिखाना होगा। सभी बच्चे ख़ुशी-ख़ुशी चिल्लाकर एक साथ 'हाँ' बोले। मेरा भी एक काम इससे आसान हुआ। वह यह कि वे ख़ुद से लिखने के लिए भी तैयार हो गए। इस काम के लिए 4-5 दिन बाद का समय निश्चित किया गया। पहले 'सब बोलें-सब बताएँ' गतिविधि को अपनाया गया। इसी को आगे लेखन में ले जाने को भी सुनिश्चित किया गया।

काम की शुरुआत

कक्षा 6 में कुल 30 बच्चे थे। इनमें कुछ बच्चे इतने मुखर नहीं थे कि निडर होकर बेहिचक अपनी बात कह सकें। मेरा ध्यान इन्हीं बच्चों

पर केन्द्रित था। मैं बार-बार उनको प्रश्नों के माध्यम से प्रेरित कर रही थी। लेकिन जिन बच्चों में झिझक नहीं थी, वे ही जवाब देने में आगे थे। इसलिए कुछ बच्चों को स्वयंसेवी बनाकर इस ख़ास समूह को अपने साथ मिलाकर बातचीत करने को कहा गया। ये बच्चे ऐसे थे जिन्हें अकेले प्रस्तुति देने और कविता को गाकर प्रस्तुत करने के लिए अपने कुछ साथियों का साथ चाहिए था। इसी अनुभव ने मुझे सभी बच्चों का मिला-जुला समूह बनाने के लिए प्रेरित किया। इनके लिए कक्षा के बाद संगीत शिक्षक से भी बात की गई। तय किया गया कि संगीत के कालांश में सभी बच्चे उन सीखी गई कविताओं का दोहरान करेंगे। कभी-कभार संगीत शिक्षक को हिन्दी कविता कक्षा में भी आमंत्रित किया गया। इस तरह के प्रयासों के बाद बच्चों की झिझक ख़त्म होने लगी और वे समूह के साथ सहज महसूस करने लगे।


बदला-बदला-सा मौसम है
बदले-से लगते हैं सुर।
दीदा फाड़े शहर देखता
गाँव देखता टुकुर-टुकुर।

तिल रखने की जगह नहीं है
शहर ठसाठस भरे हुए।
उधर गाँव में पीपल के हैं
सारे पत्ते झरे हुए।

मेट्रो के खंभे के नीचे
रात गुजारे परमेसुर।
दीदा फाड़े शहर देखता
गाँव देखता टुकुर-टुकुर।

इधर शहर में सारा आलम
आँख खुली बस दौड़ रहा।
वहाँ रेडियो पर स्टेशन
रामदीन है जोह रहा।
उनकी बात सुनी है जबसे
दिल करता है धुकुर-पुकुर।

सुरसतिया के दोनों लड़के
सूरत गए कमाने।
गेहूँ के खेतों में लेकिन
गिल्ली लगीं घमाने।

लँगड़ाकर चलती है गैया
सड़कों ने खा डाले खुर।
दीदा फाड़े शहर देखता
गाँव देखता टुकुर-टुकुर।

इसका परिणाम आगे चलकर बाल सभा में उनके कविता पाठ के रूप में नज़र आया। अब वे कक्षा में भी कविता को समूह में गाते और अपने सभी साथियों को इस प्रक्रिया में शामिल करते। इसके बाद समूह में उसके अर्थ पर बात करते क्योंकि उन्हें अब कविता पर बनी समझ को समूहवार प्रस्तुत भी करना था। इस बीच मैं हर समूह द्वारा किए जाने वाले प्रयासों पर ध्यान रख रही थी। वे सभी अपने-अपने समूह में कविता के अर्थ के साथ-साथ नवीन शब्दों पर बात करते उनपर मौखिक वाक्य बना रहे थे। जब प्रस्तुतिकरण की प्रक्रिया को बच्चे समझने लगे तब उनसे सम्बन्धित कविता से कुछ प्रश्न बनाने को कहा गया। इसमें कक्षा के सभी स्तर के बच्चों ने भाग लिया। प्रश्नों की प्रकृति में स्तरवार अन्तर था। जहाँ एक समूह कविता के सामान्य अर्थ से जुड़े 'क्या-कब-किसने' जैसे प्रश्न बना रहा था, वहीं अन्य समूह के बच्चे 'क्यों' और 'किसलिए' जैसे प्रश्न बना रहे थे जो तर्क एवं चिन्तन से जुड़े थे।

जैसा कि ऊपर ज़िक्र आया है, आगे की योजना भावार्थ और सार-लेखन से सम्बन्धित थी। अभी हमारी कक्षा में सभी बच्चे भावार्थ और सार-लेखन में सक्षम नहीं थे, इसलिए इन बच्चों के साथ मैं ख़ुद जुड़कर इनकी बातों को चार्ट पेपर पर लिखकर उन्हें पढ़ने को कह रही थी। इनका मैंने एक अलग समूह बनाया था जिसमें लिखने पर काम हो रहा था, लेकिन मात्राओं की समझ को सन्दर्भ के साथ मज़बूत करने का दोहरान भी था। प्रत्येक कविता के अन्त के साथ हमारी ज़िम्मेदारियों पर भी सहज बातचीत को आगे बढ़ाया जाता था। जैसे, अगर किसी कविता में पेड़-पौधों से वस्तुएँ प्राप्त होने की बात है तो बच्चों से इस विषय पर चर्चा हुई कि प्रकृति के प्रति हमारा क्या दायित्व है, हम उसे कैसे पूरा कर सकते हैं, आदि। इन सवालों पर बच्चों के बहुत सटीक जवाब आए। उन्होंने कहा, "जो जितने मकान बनाए, उतने ही पेड़ लगाए।" एक बच्चे ने कहा, "शादी होने पर भी पेड़ लगाएँ तो हम पेड़ों के नुक़सान से बच सकते हैं।" यहाँ हम कविता से सकारात्मक

सोच का विकास करने में सफल होते नज़र आए। साथ ही कविता को सुनने या समझने के बाद उसके अर्थ और भाव को बता पाने और कविता में दिए सन्देश को समझने में भी सक्षम हुए। इसके बाद कुछ नारों की बात चली। बच्चों ने गाँव के आसपास की दीवारों पर लिखे नारों की भी चर्चा की, जिनमें पर्यावरण को बचाने की बात शामिल थी। इसके बाद बच्चों ने 'जल ही जीवन है' के प्रचलित नारे की तर्ज़ पर 'पेड़ है तो कल है' नारा बनाया। इस प्रक्रिया को ये कहकर विराम दिया गया कि अभी सिर्फ़ कविता के अर्थ-भावार्थ को ही समझेंगे। आगे की कक्षाओं में हम विज्ञापन और नारे पर काम करने वाले हैं।

कविता शिक्षण के दौरान हुई चर्चा के कुछ अंश :

प्रदीप शुक्ल की कविता 'बदला-बदला-सा मौसम है, बदले-से लगते हैं सुर' पर बच्चों से कुछ इस तर्ज़ की चर्चा हुई :

सवाल : "अच्छा बताओ, कविता सुनकर क्या समझ आया?"

मनीष : "दीदी, गाँव और शहर के बारे में बताया गया है।"

सवाल : "गाँव-शहर के बारे में क्या बात बताई गई है?"

मोहित : "गाँव में उतनी भीड़ नहीं है जितनी शहर में होती है।"

सवाल : "भीड़ शहर में ज़्यादा क्यों होती है?"

कोमल : "दीदी, गाँव में तो खेती-बाड़ी का ज़्यादा काम है, तो शहर से गाँव में कोई नहीं आता लेकिन शहर में इसका उलटा होता है।"

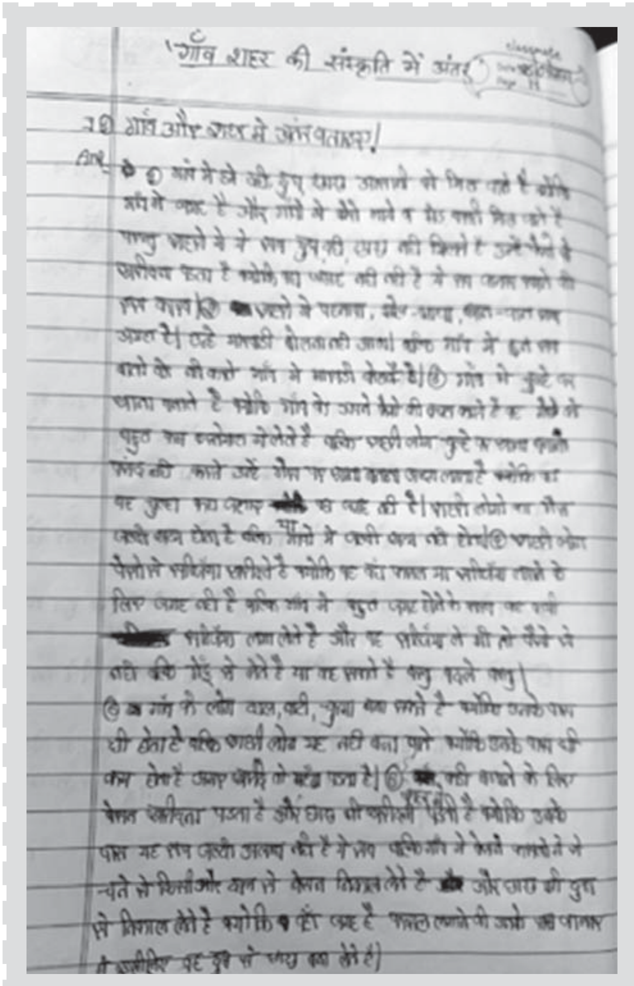
सवाल : "शहर में किस तरह के काम हैं?"

पायल : "शहर में कारख़ाने, बड़ी-बड़ी दुकानें (मॉल, बड़े बाज़ार) हैं जिनमें नौकरी के लिए लोग आते-जाते रहते हैं।"

सवाल : "अब तो आपके गाँव में भी ख़ूब दुकानें खुल गईं, है न?"

पायल : "हाँ दीदी, पर अब भी उतनी चीज़ें नहीं हैं।"

दीदी : "क्या मतलब? मैं समझी नहीं पायल!"


'गाँव शहर की संस्कृति में अंतर'

1) गाँव और शहर में अंतर बताइए।

पायल : “दीदी, जैसे हमारे भैया लोग हैं न, उनको आगे पढ़ाई करनी थी तो उनको शहर ही जाना पड़ा। गाँव में पढ़ने की सुविधा नहीं हो पाई।”

दीदी : “अच्छा! इसके अलावा और क्या-क्या अन्तर लगता है आपको?”

धनराज : “दीदी, जैसे कोई ज़्यादा बीमार हो जाता है तो उसको जयपुर ले जाना पड़ता है। नहीं तो बीमारी बढ़ जाती है।”

हिमांशु : “हाँ दीदी, अपने स्कूल का हनुमान बहुत बीमार हो गया था, फिर उसको भी जयपुर ले गए थे फिर वो मर गया।”

दीदी : “जयपुर ही क्यों जाना पड़ता है?”

कोमल : “क्योंकि जयपुर शहर बड़ा है और वहाँ हर तरह की सुविधा ज़्यादा है न, इसलिए!”

सवाल : “गाँव व शहर में और किस तरह के परिवर्तन देखने को मिलते हैं?

कमलेश : “दीदी, बस, कारें, टैक्सी भी ज़्यादा हैं और कमाने के लिए मौक़े भी हैं।”

दीदी : “अच्छा, यानी यातायात के साधन भी कह सकते हैं...?”

एक साथ सभी : “हाँ दीदी, कह सकते हैं।”

दीदी : “अच्छा, अब तुम सब इस कविता को एक बार फिर से पढ़कर देखो कि तुमने जो-जो बातें बताई हैं, उनमें से कौन-कौन-सी बातें ये कविता भी कह रही है।”

(इसके बाद सभी ने एक बार फिर से कविता को पढ़ा और अपनी-अपनी बात के लिए कहा कि ये बात मैंने बताई थी जो इसमें है, जैसे– रोज़गार, चिकित्सा, स्टेशन, बस, आदि)।

फिर एक बात और मेरे द्वारा जोड़ी गई कि इसमें परिवार के विषय में भी बताया गया है– एकल और संयुक्त परिवार। क्या तुम इस बारे में जानते हो? इस सवाल पर भी चर्चा हुई। कविता की पंक्ति “सुरसतिया के दोनों बेटे सूरत गए कमाने को” के ज़रिए सरस्वती नामक महिला के अकेलेपन और एकल परिवार पर चर्चा की गई। गाँव में दादा-ताऊ-चाचा आदि के एक साथ, एक जगह रहने और एक साथ खाना बनने की बात से संयुक्त परिवार को समझाया गया। इस तरह, यहाँ सामाजिक विषय के प्रकरण पर सामान्य बातचीत करके उन्हें पुस्तकालय अथवा



सामाजिक विज्ञान विषय की कक्षा में सवालों के ज़रिए समझ बढ़ाने को कहा गया।

अकसर कविता गायन के ख़त्म होने के साथ ही बच्चों की परस्पर बातचीत का सिलसिला कुछ इस तरह शुरू होता था, “दीदी, कविता बहुत अच्छी है”... कहकर कुछ बच्चे कविता के अच्छे होने का कारण बताते तो कुछ कविता की पंक्तियाँ दोहराते। यह दोहरान कविता के भावार्थ

को समझने, सन्दर्भ को अनुमान से जानने और तर्क को, मुहावरे को समझने के पर्याप्त अवसर देता है। यहाँ तक कि कई बच्चों ने तो कविता में निहित तुलनात्मक बिन्दुओं को पकड़ा भी और उनका विश्लेषण भी किया।

अब मैं रोज़ नई कविताएँ खोजने और ख़ुद उनका राग बनाने में समय लगाने लगी, ताकि अगले दिन नई धुन और लय-ताल के साथ उनको कक्षा-कक्ष की गतिविधि का हिस्सा बना सकूँ और उसका भरपूर आनन्द ले व दे सकूँ। एक और कविता जो कक्षा में की गई वह थी, 'गिलहरी का घर', और इस कविता पर गतिविधि थी, कविता को समझकर उससे कहानी बनाना। अब हर बच्चा अपनी स्मृति के आधार पर कहानी बनाता और उससे भी पहले ध्यान से सुनने को आतुर रहता। काम करते-करते बच्चे कहने लगे, "हम गिलहरी का घर बनाकर लाएँगे।" उन्होंने कक्षा की दीवार पर एक पेड़ बनाकर लगाया, उसके पास गिलहरी, ख़रगोश, चिड़िया, बन्दर आदि जानवर भी लगा दिए और उसको नाम दिया 'कविता पेड़'। रिंकू तो गिलहरी के लिए बिस्तर भी बनाकर लाई। कक्षा में किसी से कुछ करने को अलग से नहीं कहा गया था, पर अब वे ख़ुद ही उत्साहित हो रहे थे। यह उन्हें सृजनात्मकता और रचनात्मकता की ओर उन्मुख कर रहा था। जैसे ही कविता 'वन-श्री' का वाचन करवाया गया, उन्होंने कहा, "अब हम इस पेड़ के पास एक गाय और लगाएँगे।" एक छात्रा तो बया का घोंसला रँगकर भी ले आई और 'कविता पेड़' के पास लगाया। पूछने पर उसने बताया, "वन में तो पेड़ पर घोंसले भी होते हैं, इसलिए मैं ये बनाकर लाई हूँ।" बच्चों के इस क्रियाकलाप से एक नया विचार उत्पन्न हुआ। बच्चों से कविताएँ छाँटकर लाने को कहा गया और एक दिन कक्षा की दीवारों पर विभिन्न कविताएँ लगाने के लिए चार्ट पेपर वर्क करवाया गया। इस काम से अगले दिनों के लिए कुछ नई सन्दर्भ सामग्री भी तैयार हो सकी। कक्षा 6 में कविता शिक्षण के कार्य से प्रेरित होकर अन्य कक्षाएँ भी कविता सुनाने की माँग करने लगीं। जब कविता शिक्षण प्रक्रिया चल रही थी, तब हमारी कक्षा सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई थी। दूसरी कक्षाओं के बच्चे, जो पानी पीने के लिए अपनी कक्षा से बाहर आते, कक्षा के दरवाज़े के बाहर खड़े होकर तब तक कविता का आनन्द लेते रहते थे जब तक कि उन्हें इशारे से अपनी कक्षा में जाने को नहीं कह दिया जाता। स्कूल की दीदी (जो खाना बनाने का काम करती हैं) कक्षा के बाहर से मुस्कुराते हुए गुज़रतीं। यहाँ तक कि सामाजिक विज्ञान के शिक्षक भी कविता का आनन्द लेने कक्षा में आते और स्कूल की बैठकों में इस प्रक्रिया से बच्चों के सीखने की प्रशंसा करते।

कविता शिक्षण के इस क्रम में अगली कविता थी, 'पंपापुर जाना है हमको'। इस कविता में 'पंपापुर' बच्चों की रंग-रंगीली दुनिया है जहाँ सर्कस, खेल-तमाशे, कहानी, कविता और मस्ती की दुनिया है। सबके साथ मिलकर, नाच-कूदकर कविता को गाया गया। उस समय कक्षा में बच्चों का आनन्द देखने लायक़ था, जिसे शब्दों में बयाँ करना मुश्किल होगा। उनके चेहरे की मुस्कुराहट और देर तक गूँजने वाले कविता के स्वर इस बात की पुष्टि करते थे कि वे कविता के भावों को समझने और उसमें डूबने लगे हैं। इस कविता को उन्होंने स्वयं से तैयार करके सुबह की बाल सभा में आत्मविश्वास के साथ प्रस्तुत किया। इसी तरह की कुछ कविताओं को कक्षा में सभी ने खड़े होकर हाव-भाव के साथ गाया भी। कक्षा में जब कविता ख़त्म हो गई तो कुछ सवाल-जवाब इस क्रम में रहे :

मनीष (उत्साहित होकर) : "दीदी, पंपापुर कहाँ है?"

दीदी : "क्यों? तुमको वहाँ जाना है क्या?"

मनीष : "हाँ दीदी, मुझे वहाँ सर्कस, झूले और रंग-बिरंगी दुनिया को देखना है।"

दीदी : "अच्छा चलो, एक बात बताओ! वहाँ क्या-क्या है, तुमने कैसे जाना?"

मनीष : "दीदी, इसमें आया है न! वहाँ ख़ूब रंग-बिरंगी दुनिया है। वहाँ गुड़िया है, गुड्डा है, खेल-खिलौने हैं। कहानियाँ सुनने को मिलती हैं और सर्कस भी दिखाते हैं। पंपापुर बच्चों की दुनिया है।"

दीदी : "इसका मतलब तो तुम घूम आए हो।"

मनीष : "नहीं तो दीदी!"

दीदी : "कविता में जिन बातों को बताया गया है, उनसे तो आपको सब चीज़ों का अनुमान लग रहा है। है न?"

सभी : "हाँ, हाँ!"

चर्चा आगे बढ़ाते हुए मैंने बच्चों से कहा कि इस तरह से हम कविता की सभी बातों की कल्पना कर रहे हैं और समझ रहे हैं कि पंपापुर किस तरह की दुनिया है।

इस तरह बच्चों को कल्पना करने और अनुमान लगाने का अभ्यास हो रहा था। अब बच्चों को कहा गया कि इस कविता पर अपने विचार लिखो कि तुमको क्या-क्या समझ आ रहा है। इस तरह लेखन का अभ्यास करवाया गया। अगला काम 'एक अनोखी दुनिया' नाम से कहानी या निबन्ध लिखवाने का रहा, जिसे सभी ने अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर लिखा। हालाँकि, मनीष के इस प्रश्न का जवाब तो मेरे पास नहीं था कि "पंपापुर कहाँ है?", पर इतनी सन्तुष्टि मिल रही थी कि कविता ने बच्चों के मन को छू लिया है और शायद अब वे कविताओं को पढ़ना और उनका आनन्द लेना भी सीख चुके हैं। इसी प्रक्रिया में भाषा शिक्षण के वे कई उद्देश्य पूरे हो रहे थे, जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है।

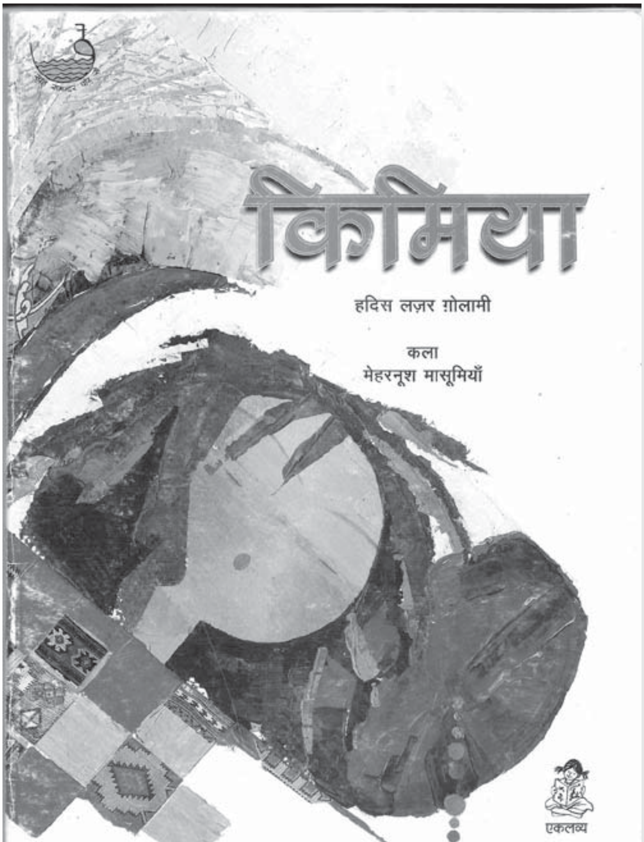
उच्च प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाते-पढ़ाते मैं इतनी अभ्यस्त हो गई थी कि कविता के आनन्द को बच्चों तक पहुँचाने के अन्दाज़ और आनन्द के तरीक़ों को भूल ही गई थी। जब बच्चों के साथ कविता गायन किया और उनके चेहरे के भावों व ख़ुशी को देखा तो मैंने सीखा कि गतिविधियों में प्राथमिक-उच्च प्राथमिक स्तर पर अन्तर तो हो सकता है, पर कविता का आनन्द लेने का तरीक़ा कविता में डूबने से ही मिलता है। साथ ही इसमें मानसिक क्रिया के साथ-साथ शारीरिक क्रियाकलापों का होना भी नितान्त अनिवार्य है। यह काम करते हुए मैंने सीखा कि कविता से सृजन की तरफ़ कैसे बढ़ें और कला व सामाजिक विज्ञान को भाषा शिक्षण से कैसे जोड़ें। कविता शिक्षण से दूसरी विधाओं को सिखाना भी आसान-सा लगा। यहाँ एक शिक्षक की भूमिका में होने से मेरी समझ का स्तर तो व्यापक हुआ ही, दूसरे विषय भी शिक्षण में स्वतः शामिल हो गए। मसलन, संगीत शिक्षक ने अच्छी धुन बनाने में मेरी मदद की, संगीत की कक्षा में कविता का अभ्यास करवाकर बच्चों का मनोबल बढ़ाया, जिससे सभी बच्चे सुबह की सभा में अपनी प्रस्तुति दे सके। इस कक्षा से बच्चों को अपनी दुनिया में रंग भरने के साथ-साथ चित्रकारी करने, कुछ नया गढ़ने, बातचीत करने, प्रश्न खड़े करने, सोचने, सृजन करने, आदि के मौक़े मिले और साथ ही भावात्मक रूप से वे शिक्षक के और नज़दीक आए। कविता शिक्षण के इस अनुभव से मुझे महसूस हुआ कि इस तरह के सीखने-सिखाने से व्यवहारिक बदलाव लाने, भावनात्मक सुदृढ़ता और तार्किक क्षमता को बढ़ाने के रास्ते भी खुलते हैं और बच्चों में सोचने व चिन्तन करने की क्षमता का विकास भी होता है।

प्रतिभा शर्मा शिक्षा के क्षेत्र में 15 वर्ष से काम कर रही हैं। आपने मानस गंगा सीनियर सेकेंडरी स्कूल (बोध शिक्षा समिति, कूकस) में 6 वर्ष तक कार्य किया। केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय (नई दिल्ली) जयपुर परिसर से संस्कृत भाषा में पीएचडी तथा बीएड की शिक्षा प्राप्त की। 2017 से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, टोंक से जुड़ी हैं। संस्कृत विषय पर आपके लिखे कई लेख संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। शिक्षा सम्बन्धी लेख 'टीचर्स ऑफ़ इंडिया पोर्टल' पर भी प्रकाशित हुए हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी स्कूल टोंक, राजस्थान में शिक्षण कार्य कर रही हैं।

सम्पर्क : pratibha.sharma@azimpremjifoundation.org

प्यारी मदाम मौत

प्रभात



किमिया

लेखक : हदिस लज़र ग़ोलामी

कला : मेहरनूश मासूमियाँ

अनुवाद : दीपाली शुक्ला

प्रकाशक : एकलव्य प्रकाशन

क्या बच्चों को ऐसी किताबें पढ़ने के लिए दी जानी चाहिए जिनमें मृत्यु होती हो, या जो मृत्यु सम्बन्धी वर्णनों को पेश करती हों? कुछ लोग कहते हैं, "नहीं।" उनकी मान्यता रहती है कि इससे बच्चे के कोमल मन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। उसे अभी से मृत्यु के बारे में बताना, जल्दबाज़ी भरी ज़्यादती है। इस तरह की मान्यता रखने वाले लोगों से पूछा जाए कि और क्या-क्या ऐसा है जो बच्चों को अभी नहीं पढ़ाया जाना चाहिए। बिना किसी सोच में पड़े वे बता देंगे कि ऐसी किताबें पढ़ने को नहीं देनी चाहिए जिनमें हिंसा हो, ऐसी भी नहीं पढ़वानी चाहिए जिनमें प्रेम हो और ऐसी भी नहीं जो हमारे खानपान, रहन-सहन के अनुकूल न हों। लोगों की यह नकारात्मकता कभी-कभी तो साम्प्रदायिक हदों को छूने लगती है। वे मुखर होकर कहते तो नहीं लेकिन उनके बौद्धिक विमर्श का सार यही निकलता है कि ऐसी किताब नहीं पढ़वानी चाहिए जिसमें जिन्ना टोपी का ज़िक्र हो, क्योंकि वह हिन्दूवादी रुझानों वाली सरकार को पसन्द नहीं आएगा। तो क्या सरकारों की पसन्द और नापसन्दगी को भी ज़ेहन में रखकर बच्चों के लिए किताबें चुननी होंगी?



ये सवाल मेरे ज़ेहन में इसलिए आ रहे हैं क्योंकि ऐसे कुछ उदाहरण मेरे अनुभव का हिस्सा रहे हैं। *बरास्ता तरबूज़* किताब किशोर मन में विकसित होती प्रेम की भावनाओं की बेजोड़ कहानी है। अत्यन्त संवेदनशील और सौन्दर्यपूर्ण तरीक़े से लेखक ने इन भावनाओं को शब्द दिए हैं। लेकिन एक संस्था ने अपने पुस्तकालयों से उस किताब को इसलिए वापस ले लिया क्योंकि "समुदाय को ये लग सकता है कि पुस्तकालयों में बच्चों को शिक्षा के बजाय प्रेम कहानी पढ़वाई जा रही है।" जैसे कि शिक्षा के उद्‌देश्यों में प्रेम के लिए कोई स्थान ही न हो। जहाँ ऐसी किसी किताब के विरोध में कोई स्वर उठ भी रहा है तो पुस्तकालय का तो काम ही, ऐसी किताब की कितनी ज़्यादा ज़रूरत है, इस बात को समझना और इसकी ज़रूरत के बारे में लोगों को जागरूक करना है। यह एक लम्बा, थकाऊ और श्रम भरा रास्ता हो सकता है। इसलिए सबसे आसान यही लगता है कि कौन झंझट मोल ले। *सिर का सालन, मुकंद और रियाज़,* आदि को लेकर भी कुछ इसी तरह के अनुभव रहे हैं।

मृत्यु, हिंसा, प्रेम, सामाजिक-सांस्कृतिक भेद बच्चों के परिवेश और उनके अपने जीवन की वास्तविकताएँ हैं। यह सब वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में घटित होते हुए देखते हैं। जो कुछ भी बच्चों के परिवेश और जीवन में है, उनके आन्तरिक और बाहरी अनुभव जगत का हिस्सा है, उसे बच्चों से किताबों में छिपाने की कोई वजह दिखाई नहीं देती है। देखने वाली बात यही होनी चाहिए कि जीवन की इन वास्तविकताओं को कोई किताब प्रस्तुत किस तरह से कर रही है। अगर कोई किताब संवेदनशील तरीक़े से इन विषयों को जीवन्त कर रही है, इन मुद्‌दों पर विचार-विमर्श और खुली बहस के लिए अवसर पैदा कर रही है ताकि बच्चे तर्क की रोशनी में अपनी कोई राय बनाने की ओर बढ़ सकें, तो इन्हें नहीं पढ़वाने का कोई कारण नहीं है। मेरे

ही नहीं, बच्चों के साथ किताबों पर काम करने वाले तमाम लोगों के अनुभव ये कहते हैं कि इन विषयों पर बड़ों के बजाय बच्चों के साथ ज़्यादा अच्छी चर्चा सम्भव हो पाती है– ज़्यादा जीवन्त और सृजनात्मक।

एकलव्य ने 'सात समन्दर पार से' शृंखला के तहत *नीले लोग, दोस्त, जल्द बहुत जल्द* आदि कुछ कमाल की किताबें प्रकाशित की थीं। उस शृंखला की एक किताब है– *किमिया*। हदिस लज़र ग़ोलामी की लिखी इस कहानी को किताब में मेहरनूश मासूमियाँ के चित्रों ने भी उतने ही कमाल ढंग से कहा है। इसे हिन्दी में दीपाली शुक्ला ने अनूदित किया है। यह 2016 में हिन्दी में आ चुकी थी। आप में से बहुतों ने इसे पढ़ भी लिया होगा। अगर आप इसे पढ़ चुके हैं तो ज़ाहिर है आप भी किमिया की मौत का किमिया की तरह ही आनन्द ले चुके हैं। कहानी की मुख्य किरदार, छोटी बच्ची किमिया, मदाम मौत से अपनी टूटी टाँग जुड़वाने के बाद गहरी नींद में सो जाती है। और मदाम मौत को सोती हुई लड़कियों को नींद से उठाने की आदत नहीं थी। फिर न जाने कैसे किमिया का नाम मौत की फ़ेहरिस्त से ग़ायब हो गया था। सो अब तो किमिया को अपने साथ ले जाने की उसके पास कोई वजह भी नहीं रह गई थी। क्या इसीलिए प्यारी मदाम मौत ने आशंका ज़ाहिर की थी कि "मैं अपनी ज़िन्दगी में हमेशा लड़कियों के द्वारा छली गई हूँ।"

यह एक फ़न्तासी है, स्वप्न कथा, मौत जिसके फेर में फँसकर रह जाती है, ठगी जाती है और उसे ठगे जाने का अफ़सोस भी नहीं है। किमिया और मौत दोनों के लिए ही इससे अच्छा क्या हो सकता है। लेखक के लिए ऐसी दिलचस्प कथा की कल्पना करने और बुनने से बेहतर क्या हो सकता है। पाठक के लिए इसे पढ़ने से बेहतर क्या हो सकता है। मैंने इसे बार-बार पढ़ा है। और हर बार इसे पढ़ लेनेभर से मुझे रच लेने जैसा सुख मिला है। यही सृजन की उपलब्धि है।

मैं इसे पढ़ने के बाद सोचने लगा कि छोटी बच्ची किमिया की ज़िन्दगी में किसी रात मौत फिर आई होगी तो उसके और मदाम मौत के बीच क्या गपशप हुई होगी, और किमिया ने मदाम मौत से इस बार अपना कौन-सा ज़रूरी और नाज़ुक काम करवा लिया होगा। यह कितनी मज़ेदार बात है कि किसी किताब को पढ़ लेने के बाद मन-ही-मन आप फिर-फिर उसे पढ़ते रहें। दोस्तों के बाद किताबें ही हैं जो आपके भीतर इतनी जगह बना लेती हैं कि आप कभी-कभी तो ख़ुद से ज़्यादा उनके बारे में सोचने-विचारने लगते हैं। लेखक ने कहानी में मौत को दूसरे मुख्य किरदार के रूप में प्रस्तुत कर कहानी की पठनीयता को पंख लगा दिए हैं। वैसे भी कहानी में किमिया और मौत के अलावा तीसरा कोई किरदार है भी नहीं।

किमिया के चित्रों में एक अलग ही नयापन, अनोखापन है। चित्र धूप के पानी से अभी-अभी नहाकर निकले-से लगते हैं। रंगों का ऐसा उजला प्रयोग मानो उनमें से जीवन की रोशनी फूटती हो। चित्रों में जीवन्त रोशनी इसलिए और भी आकर्षक हो उठती है कि कहानी मृत्यु पर है– "सब नींद में थे जब किमिया मरी, ख़ुद किमिया भी।" सपनों में हम जो दृश्य और रंग देखते हैं और जागने पर पकड़ में न आने वाली जिस गति में देखते हैं, उसे चित्रों में ला सकना कैसा काम रहा होगा! उसी काम को इस कहानी के चित्रकार ने सम्भव किया है। चीज़ें कैसे गड्ड-मड्ड और उलझी हुईं लेकिन सपने की तरह सुन्दर भी। यही बात इन चित्रों में देखी जा सकती है।

सभी चित्र एकलव्य द्वारा प्रकाशित किताब किमिया से लिए गए हैं।

प्रभात शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं। दो कविता संग्रह *अपनों में नहीं रह पाने का गीत* साहित्य अकादमी से व *जीवन के दिन* राजकमल से प्रकाशित। बच्चों के लिए कविता, कहानियों की कई किताबें प्रकाशित। विभिन्न लोक भाषाओं में बच्चों के लिए ढेर सारी किताबों का पुनर्लेखन–सम्पादन। युवा कविता समय सम्मान, 2012, सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार, 2010, बिग लिटिल बुक अवॉर्ड–2019।

सम्पर्क : prabhaaat@gmail.com

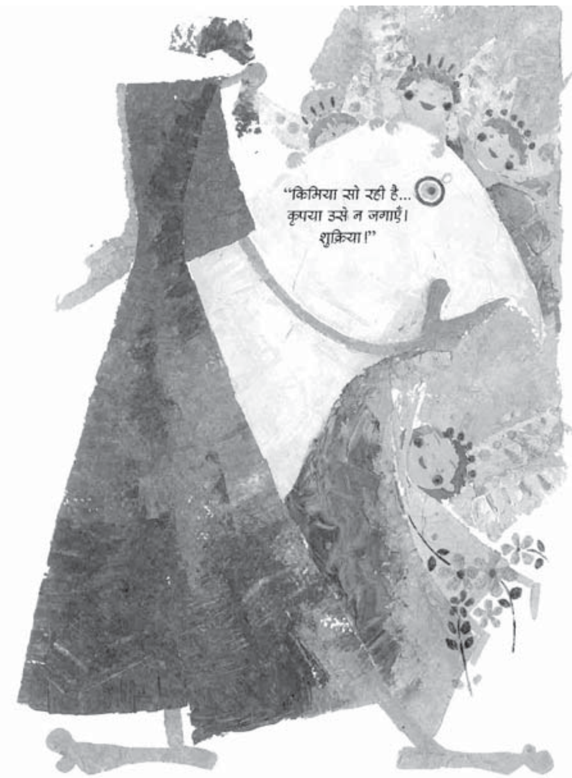
किमिया किताब का अँग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद दीपाली शुक्ला ने किया है। आइए, जानते हैं उनके अनुभव किताब के बारे में...

ज़िन्दगी और जीवटता की बुनावट : *किमिया*

दीपाली शुक्ला

जब पहली बार यह किताब हाथ में आई तो इसका शीर्षक यह इशारा कर रहा था कि कहानी एक लड़की के बारे में है, और आवरण पर बना चित्र भी इस बात को पुख़्ता कर रहा था। पहली बार इसको जब पढ़ा तो लगा कि कहानी बेहद परतदार है और इसके चित्र तमाम रंगों को समेटते हुए भी बेहद सादगीभरे हैं। कहानी में जो घट रहा है, क्या वो केवल किमिया का ख़याल है या इसके इतर मौत की हक़ीक़त है?

इसके बाद इस कहानी का हिन्दी अनुवाद करने की प्रक्रिया में इसको मैंने कई बार पढ़ा, चित्रों को देखा-पढ़ा। एक मज़ेदार हिस्से पर मैं पढ़ते समय बार-बार रुक जाती– यह हिस्सा था जब मौत और किमिया आपस में संवाद कर रही हैं। एक वयस्क और एक बच्ची के बीच का संवाद। मौत को अपना काम करना है, और वह है किमिया को ले जाना। और किमिया है कि बेहद संजीदगी और परिपक्वता के साथ अपने तर्क रखते हुए अपनी भावनाओं को भी साझा कर रही है। इस हिस्से से आगे कहानी ऐसे मोड़ पर ख़त्म होती है जहाँ से पाठक किमिया की ज़िन्दगी में काफ़ी गहरे तक दाख़िल हो जाता है।



एक लड़की और मौत की सीधी बातचीत– मौत की अपने काम के प्रति निष्ठा और किमिया का अपनी हसरतों और सपनों को हक़ीक़त में ढालने का हौसला। जब-जब कहानी को पढ़ा, यह सामने आता गया। इन सबके साथ यह सवाल भी मन में उभर रहे थे कि जिन पाठकों के लिए यह किताब प्रकाशित होने वाली है, वो इसको कैसे देखेंगे-समझेंगे। मौत को लेकर जिस तरह से हमारी मान्यताएँ, डर हैं, उनको यह किताब किस तरह से सम्बोधित करेगी। इस तरह का बाल साहित्य कम ही रचा जा रहा है और फिर यह भी कि वयस्कों, ख़ासकर जो अभिभावक हैं, शिक्षक हैं या बच्चों के साथ काम करते हैं, के भीतर मृत्यु को लेकर जिस तरह की धारणाएँ हैं, वो उन पूर्वाग्रहों के साथ इस किताब को कैसे देखेंगे और बच्चों के साथ इस किताब पर कैसे संवाद करेंगे?

सम्पादकीय टीम के दूसरे साथियों की भी कुछ ऐसी प्रतिकियाएँ थीं। जब विचारों की उथल-पुथल बढ़ गई, तब शाबाविज़ पब्लिकेशन्स की फ़ारिदेह

ख़लअतबरी से मैंने इस किताब को विकसित करने के पीछे की सोच को जानना चाहा। उस समय फ़ारिदेह ने जो साझा किया था, वो कुछ इस तरह से था : हदिस लज़र ग़ोलामी की यह कहानी उम्मीदों से भरी कहानी है और इस बात को सामने रखती है कि कई बार बहुत ही कठोर दिखने वाले लोग भी आपकी मदद कर सकते हैं।

किमिया एक ऐसी बच्ची है जो बाक़ी बच्चों की तरह ही दौड़ना-भागना चाहती है और अपनी शारीरिक दिक़्क़त को लेकर मायूसी से नहीं भरी है। वहीं दूसरी ओर, मदाम मौत अपने काम को करने आई हैं और उनकी भूमिका को देखें तो उनको जो काम दिया गया है, उसे करने में जुटी हैं, पर वो किमिया के प्रति कठोर नहीं हैं। और उससे बात करते समय वो अपने तर्क भी रख रही हैं। मदाम मौत ने किमिया के प्रति जो नरमी दिखाई, उसके एवज में उन्हें भी दण्डित नहीं किया जा रहा। इस कहानी में मदाम मौत का चित्र जिस तरह से खींचा गया है, वो आमतौर पर कहानियों में मिलने वाली मृत्यु की छवियों से एकदम फ़र्क़ है। हमेशा ये माना जाता रहा है कि मौत कोई भयावह चीज़ है, जबकि यह तो ज़िन्दगी का एक हिस्सा है, तो इससे घबराना क्यों? बच्चों के साथ, और बच्चे ही क्यों, हम बड़ों को आपस में भी इस वास्तविकता पर बात करने की ज़रूरत है। जहाँ जीवन कठिन है, वहाँ भी मौत को लेकर बच्चे क्या सोचते हैं? किमिया का किरदार जीवटता और हौसले से भरा है। जो उसके साथ घटा है और घट रहा है, वह उस मुश्किल में भी डर नहीं रही है। बस, अपनी एक ख़्वाहिश को पूरा करने के लिए एक वयस्क से तर्क कर रही है, और उसमें कामयाब भी हो रही है।



मानवीय संवेदनाओं की गहरी बुनावट इस किताब में है और इसलिए कई बार इसको पढ़ते हुए मेरी आँखों के आगे संघर्ष वाले इलाक़ों के बच्चों के दृश्य भी जीवन्त हो उठे। उनको जानने के बाद फिर किमिया के बारे में एक नए सिरे से सोचा और कहानी में कुछ नए रास्ते भी दिखे। पाठक से आगे बढ़ते हुए अनुवादक के बतौर जब इसपर काम किया तो बार-बार यह ध्यान रखा कि कहानी का मर्म बना रहे और शब्दों का कमाल भी।

एक और बढ़िया बात जो लगती है कि इस किताब के चित्र किमिया के अलग-अलग मूड को दर्शाते हैं। उसकी पीड़ा, ख़ुशी, सब चित्रों में झलकती है। अलग-अलग रंगों के शेड्स हैं और जीवन का हरा रंग काफ़ी प्रभावी है। इसमें किमिया की चादर में पैचवर्क के रूप में ईरान के कालीनों की भी झलक मिल जाती है।

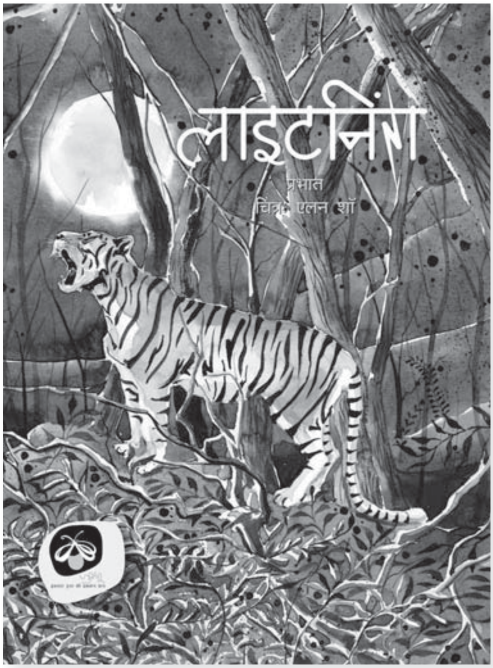
दीपाली शुक्ला एकलव्य फ़ाउण्डेशन के प्रकाशन कार्यक्रम से जुड़ी हैं। उनका रीडिंग और लाइब्रेरी के कामों से भी जुड़ाव है। उन्हें बाल साहित्य पढ़ना व इसके बारे लिखना पसन्द है।

सम्पर्क : deepalishukla99@yahoo.com

लाइटनिंग

कमलेश चंद्र जोशी

पढ़ना सीख रहे छोटे बच्चों के लिए बिग बुक तैयार की जाती हैं। इनको विकसित करने का उद्देश्य यह रहता है कि बच्चों का छपी सामग्री से जुड़ाव बने और वे किताबों को देखने, उलटने-पलटने, ख़ुद से पढ़ने के लिए प्रेरित हों। *लाइटनिंग* जैसी बिग बुक का स्कूली बच्चों से वास्ता बहुत कम पड़ता है। इस तरह की सामग्री स्कूलों में बहुत कम दिख पाती है। *लाइटनिंग* किताब को देखकर बच्चे पहले इस बात को लेकर ख़ुश होते हैं कि अरे, इतनी बड़ी किताब हमने पहले नहीं पढ़ी। यह किताब रणथम्भौर के जंगल में रहने वाली *लाइटनिंग* नाम की मशहूर बाघिन के रोज़मर्रा के जीवन की कहानी है। किताब की विषयवस्तु बच्चों से गहरे से जुड़ी हुई है और उन्हें नया अनुभव देने वाली भी है। बच्चों के लिए पढ़ना सीखने के शिक्षणशास्त्र के नज़रिए से भी देखें तो उसमें बच्चों के लिए अनुमान लगाने और किसी समस्या के हल सोचने के अच्छे मौक़े हैं। किताब के चित्र बहुत आकर्षक हैं और बच्चे इन चित्रों की डिटेल में डूब जाते हैं।



लाइटनिंग

लेखक : प्रभात

प्रकाशक : जुगनू तक्षशिला की प्रकाशन छाप

किताब में जंगल के चित्र को देखते हुए बच्चे बताते हैं कि इसमें साँप है, हिरन है, चिड़िया है और मन्दिर भी है। इसके साथ चित्रों में लाइटनिंग की दिनचर्या को अलग-अलग समय में देखना, उससे रिश्ता बनाने में बच्चों की बहुत मदद करता है। इससे लाइटनिंग उनके बीच जगह बना लेती है। यहाँ यह भी स्थापित होता है कि पूरी कायनात को ख़ूबसूरत बनाने में पशु-पक्षियों की भी जगह है।

जंगली जानवरों के प्रति हमारे मन जो एक सोच होती है कि वे ख़तरनाक होते हैं और हमला कर देते हैं, किताब से यह छवि भी कहीं टूटती है और उनके प्रति संवेदनशीलता का भाव उभरता है। उत्तराखंड के अख़बारों व समाचारों में अकसर यह पढ़ने को मिलता रहता है फलाँ जगह बाघ / गुलदार (तेन्दुआ) ने हमला कर दिया। इस कारण आम जनमानस में बाघ की छवि ख़तरनाक जानवर की ही रहती है। यही बात बच्चों के मन में भी रहती है। इसके चलते जानवरों के प्रति संवेदनशीलता उभारने वाला पक्ष छूट जाता है और बहुत-सी किताबों में वह केवल नैतिक उपदेश तक ही सीमित रह जाता है।

किताब के शुरुआती कुछ पृष्ठों के चित्रों व विवरणों में लाइटनिंग और रणथम्भौर के जंगल के गहरे रिश्ते को दिखाया गया। यह रिश्ता

जंगल के साथ-साथ गाँव के लोगों से भी है। वह कहीं पढ़ने वाले को यह संकेत भी देता है किसी जंगल का पशु-पक्षियों से क्या रिश्ता है। और इस रिश्ते को कहानी आगे और पुष्ट करती है और हमारी जानवरों के प्रति पूर्व मान्यताओं पर विचार करने और जानवरों को एक फ़र्क नज़रिए से देखने का मौक़ा देती है।

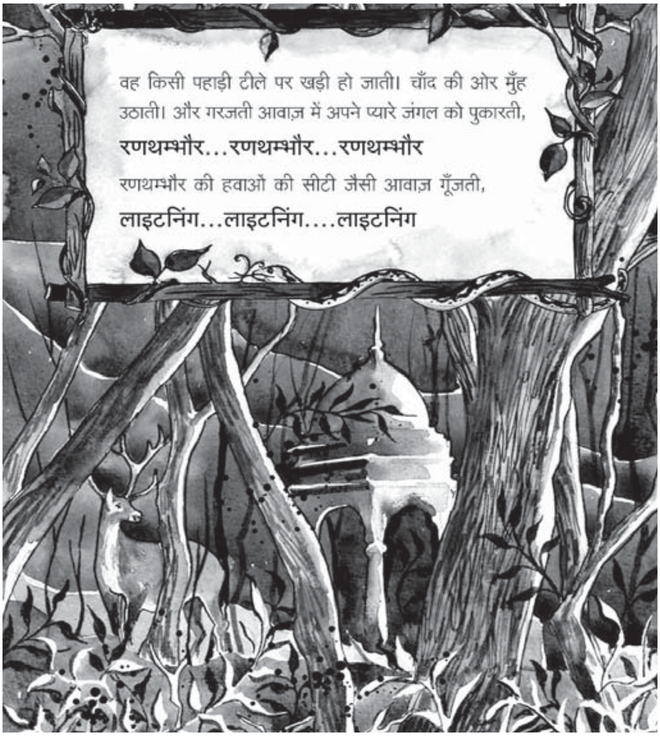
किसी स्कूल में बच्चों के साथ किताबों पर बातचीत शुरू करते है तो वे लाइटनिंग को शेर, चीता, टाइगर आदि बताते हैं। लेकिन पढ़ते हुए होने वाली बातचीत के दौरान वे समझ पाते हैं कि वह एक बाघिन है। एक विद्यालय में जब इस किताब को पढ़कर बच्चों को अनुमान लगाने का मौक़ा दिया गया कि लाइटनिंग जंगल में घूम रही है, पानी पीने जा रही है, पेड़ के नीचे बैठी हुई है तो अब कहानी में आगे क्या होगा? इसपर बच्चे कहते हैं कि यह किसी जानवर पर हमला कर देगी। आगे कहानी में होता इसका उलटा है और लाइटनिंग स्वयं एक कुएँ में गिर जाती है। बच्चे हतप्रभ होकर सोचने लगते हैं कि सब अच्छा-अच्छा चल रहा था! यह एकदम से क्या हो गया? बच्चे जो पहले उजले चित्र देख रहे थे और उन्हें देखकर ख़ुश हो रहे थे, तभी आगे का चित्र काला हो जाता है और बच्चों के बीच उदासी छा जाती है।

जब वे कुएँ के अन्दर का चित्र देखते हैं जिसमें लाइटनिंग गिर जाती है तो उन्हें झटका लगता है और वे सकते में आ जाते है। आगे वे और शिद्दत से लाइटनिंग के साथ होते हैं कि अब वह कैसे बचेगी? अब क्या होगा? यह कशमकश उन्हें बाँधे रहती है। आगे उनका यह अनुमान तब पक्का होता है कि गाँव वाले वहाँ इकट्ठा हो गए हैं और एक गाँव वाला मोबाइल से फ़ोन भी कर रहा है। तब उन्हें लगता है कि अब यह बच जाएगी। इस प्रकार यह किताब उन्हें बाँधे रहती है।

जब किताब के नाम के बारे में बच्चों से चर्चा होती है तो वे थोड़ा सोचते हैं और कहते हैं कि इसकी आँखें वैसी ही चमकती होंगी जैसी रात में बिल्ली की चमकती हैं, तभी इसका नाम *लाइटनिंग* पड़ा होगा। फिर उनसे यह बात होती है कि हो सकता है जब यह ज़ोर से दहाड़ मारती हो तो पानी बरसने के दौरान बिजली की गड़गड़ाहट होती हो और लाइट चमकती हो इसलिए इसका नाम यह पड़ा हो।

किताब की विषयवस्तु व साज-सज्जा को देखते हुए यह समझ में आता है कि यह पुस्तक छोटे बच्चों को किताब पढ़कर सुनाने की दृष्टि से एक उपयुक्त किताब है। इसको बच्चों को सुनाते हुए उनसे बात की जा सकती





है, अनुमान लगाने के मौक़े दिए जा सकते हैं, उन्हें चित्रों को ध्यान से देखना सिखाया जा सकता है और इनकी बारीक़ियों पर बातचीत की जा सकती है। इसपर बच्चों को अपने अनुभव जोड़ने व आगे सोचने को कहा जा सकता है और चर्चा की जा सकती है। कुल मिलाकर इसे बच्चों को किताब पढ़कर सुनाने वाली किताबों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

रणथम्भौर के जंगल के आसपास के अनुभवों के आधार पर प्रभात द्वारा लिखी गई छोटी-सी कहानी को एलन शॉ ने काफ़ी श्रम और जतन से चित्रित किया है। बिग बुक बनाने की दृष्टि से इसके सम्पादन पर भी मेहनत की गई है। इस किताब को तक्षशिला प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। किताब का मूल्य साढ़े चार सौ रुपए है। किताब के काग़ज़, मुद्रण व चित्रों की गुणवत्ता की दृष्टि से इसे स्कूलों में रखा जाना आवश्यक लगता है।

कमलेश चंद्र जोशी प्राथमिक शिक्षा से लम्बे समय से जुड़े हुए हैं। प्राथमिक शिक्षा से जुड़े विभिन्न विषयों– शिक्षक शिक्षा, बाल साहित्य, प्रारम्भिक भाषा एवं साक्षरता आदि में गहरी रुचि। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, ऊधम सिंह नगर में कार्यरत।
सम्पर्क : kamlesh@azimpremjifoundation.org

शिक्षक का व्यापक नज़रिया कक्षा को जीवन्त और सार्थक बनाता है

शिक्षिका सुमन विष्ट से दीपक राय की बातचीत



दीपक : सुमनजी, अपनी पढ़ाई-लिखाई और शिक्षकीय जीवन के बारे में कुछ बताएँ।

सुमन : मेरे माता-पिता उत्तराखंड के निवासी हैं, लेकिन अपनी नौकरी के चलते वे जयपुर में आकर बस गए थे। जयपुर के महारानी स्कूल से मेरी स्कूली शिक्षा हुई, महारानी कॉलेज से स्नातक और राजस्थान यूनिवर्सिटी से स्नातकोत्तर व शोध हुआ।

मैं 31 वर्षों से शिक्षण कर रही हूँ। इस दौरान सात स्कूलों में शिक्षण कार्य का मौक़ा मिला। शुरुआती वर्षों में मैंने अपने वरिष्ठ और साथी अध्यापकों से बहुत कुछ सीखा। प्रारम्भिक शिक्षा की शिक्षण विधियों को समझा और उन्हें व्यवहारिक रूप में उतारने का प्रयास किया। अपने प्रधानाध्यापकों से मैंने सीखा कि एक व्यवस्थित स्कूल क्या होता है और बच्चों के साथ किस प्रकार से काम करना है। मैं जहाँ भी गई, काम करने का उचित माहौल मिला। मैंने भी सभी स्कूलों में कुछ-न-कुछ नया करने का प्रयास अपनी तरफ़ से किया।

दीपक : क्या आप प्रारम्भ से ही शिक्षक बनना चाहती थीं? आपके शोध करने के पीछे भी क्या शिक्षक बनना ही उद्देश्य था या कुछ और?

सुमन : मुझे बचपन से ही पढ़ने-लिखने का बहुत शौक़ था। अपने स्कूली दिनों में ही मैं अपने कुछ शिक्षकों से इतना प्रभावित थी कि मैंने निर्णय ले लिया था कि आगे जाकर शिक्षक ही बनूँगी। पीएचडी की प्रेरणा मुझे अपनी माताजी से मिली। हाँ, शोध करते समय तो यह मन में था कि महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में पढ़ाना होगा लेकिन मैंने पूरे मन से धीरे-धीरे

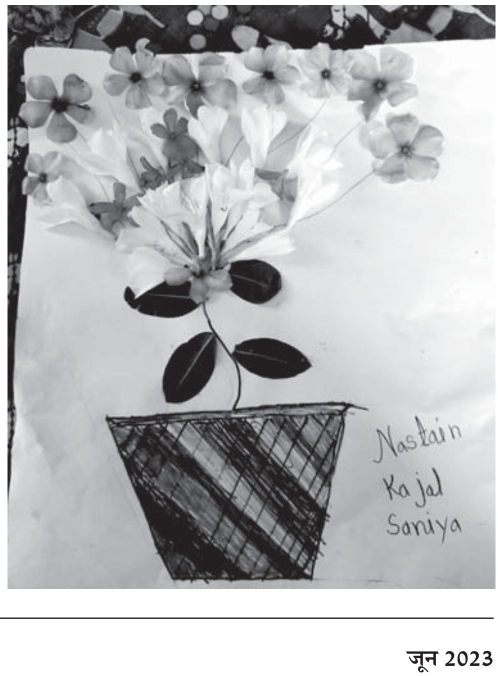


स्कूल में ही पढ़ाने का काम स्वीकार किया। कुछ ही समय बाद मुझे लगने लगा कि मेरे सपनों की दुनिया यही थी। यानी, छोटे बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में संलग्न होना। आज मुझे यह लगता है कि शिक्षकों को ख़ूब पढ़-लिखकर और पूरी तैयारी के साथ पढ़ाने के काम में आना चाहिए। एक शिक्षक का नज़रिया जितना व्यापक होगा, उसकी कक्षा उतनी ही जीवन्त और बच्चों की दुनिया से तालमेल बैठा सकने में समर्थ होगी।

पढ़ाना निश्चित रूप से एक पेशा है, लेकिन यह मेरे लिए पेशे के साथ 'पैशन' भी है, और प्रतिबद्धता भी। यह मेरे जीवन का सबसे पसन्दीदा काम है। मुझे छुट्टियों के दिन भी स्कूल आना अच्छा लगता है। बच्चे कुछ किताबें पढ़ लेते हैं, कुछ बागवानी कर लेते हैं, कुछ वॉल पेंटिंग, हैंडीक्राफ़्ट, साफ़-सफ़ाई और फिर घर वापस। यह सब एक सकारात्मक ऊर्जा और सोच के साथ होता है। मुझे पेड़-पौधों के साथ कुछ-कुछ प्रयोग करते रहने का शौक़ है। वृक्षारोपण, पर्यावरण की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, पेड़-पौधे विद्यालय की सुन्दरता में भी चार चाँद लगाते हैं। इसके साथ-साथ अगर पाठ्यक्रम के उपयोग की बात करें तो बच्चे सहज रूप से ही समझ जाते हैं कि कौन-सा पौधा किस मौसम में उगाया जाना चाहिए, कौन-सा पौधा बीज से उगता है, कलम से पौधे किस प्रकार लगाए जाते हैं, कौन-से पौधे जानवरों के भोजन के काम आते हैं, कौन-से औषधीय पौधे हैं, आदि। बच्चे पौधों की लम्बाई, चौड़ाई व उनके अंगों की जानकारी के साथ यह भी सीखते हैं कि किस मौसम में किस पौधे में फूल आते हैं, फलों वाले पौधे कौन-से हैं, किन फ़सलों से अन्न प्राप्त करते हैं, आदि। यानी, कई सारी बातों पर हम पौधों पर काम करने के क्रम में ही एक समझ बनाने की कोशिश करते हैं। बच्चे भी मेरे साथ पुराने पौधों से काफ़ी नए पौधे उगाते हैं और विद्यालय में आने वाले अतिथियों को हम सब अपने हाथों से तैयार पौधे ही उपहार में देते हैं। कई सारे स्कूलों को भी हमने अपने बच्चों द्वारा लगाए पौधे भेंट किए।

दीपक : विद्यालय में बच्चों की सक्रियता बढ़ाने के लिए आप क्या करती हैं?

सुमन : विद्यालय में बच्चों की सक्रियता बढ़ाने के लिए पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त



अन्य सह शैक्षिक गतिविधियों, जैसे– खेलकूद, ड्राइंग, नृत्य के साथ-साथ आर्ट एंड क्राफ़्ट, आदि की शिक्षा भी दी जाती है। समय-समय पर अन्य संस्थाओं के माध्यम से हमारे विद्यालय में बच्चों के लिए साल में दो-तीन कार्यशालाएँ आयोजित की जाती हैं जिनमें बच्चों को ड्राइंग-पेंटिंग के अतिरिक्त मास्क मेकिंग, नुक्कड़ नाटक और कई खेल गतिविधियाँ कराई जाती हैं। बच्चे विद्यालय को अपने घर से भी अधिक अपना समझते हैं। इसलिए वे हर चीज़ में रुचि रखते हैं, उसे सँवारते हैं और विद्यालय की हर गतिविधि में शामिल रहते हैं। विद्यालय की समग्र उन्नति को लेकर प्रत्येक बच्चा जागरूक है। दीवारों के रंग कौन-से होंगे, कहाँ कौन-सा चित्र बनेगा, पेड़-पौधे कहाँ और कौन-से लगेंगे, टायलेट की सफ़ाई से लेकर विद्यालय प्रांगण और कक्षा की साफ़-सफ़ाई तक वे अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं और पूरी तत्परता से निभाते भी हैं। दीवारों के रंग-रोगन से लेकर सफ़ाई तक का सारा काम बच्चे ख़ुद ही करते हैं। यूँ समझिए कि एक तरह से वे ही विद्यालय संचालित करते हैं। दरअसल, मैं बच्चों को ज़िम्मेदारी देती हूँ और वे उसे पूरे दायित्व से करते भी हैं। कई बार वे बहुत अच्छे-से उन ज़िम्मेदारियों को नहीं निभा पाते, लेकिन इससे उन्हें ज़िम्मेदारियाँ देने का काम नहीं रुकता।



दीपक : बच्चों की इस तरह से विद्यालय में भागीदारी देख-सुनकर अच्छा लग रहा है। आपने कोविड काल के दौरान बच्चों के लिए कई छोटे-छोटे वीडियो और शैक्षिक गतिविधियों का निर्माण किया है, उनके बारे में विस्तार से बताएँ।

सुमन : कोरोना काल में बच्चों की पढ़ाई का काफ़ी नुक़सान हुआ था। उन्हें शिक्षा से जोड़े रखना एक अहम मुद्दा था। ऐसे समय में मोबाइल के माध्यम से ही हम बच्चों तक अपनी बात पहुँचा सकते थे। उस समय में उपलब्ध संसाधनों की मदद से हमने कई सारे वीडियो बनाए, जिन्हें बच्चों के साथ साझा करके उनसे बातचीत करती थी। कोविड काल के बाद भी बच्चों के लर्निंग लॉस को दूर करने के लिए मैं निरन्तर छोटे-छोटे शैक्षिक वीडियो और गेम बना रही हूँ, जिनमें संख्या ज्ञान, मौखिक भाषा विकास एवं कविता-कहानियों पर काम किया गया है ताकि बच्चे अपनी कक्षा स्तर की लर्निंग को हासिल कर पाएँ। अभी हाल ही में हमने विद्यालय में पोषाहार में मिलने वाले केलों की दुकान लगाकर जोड़-बाक़ी की अवधारणा का एक वीडियो बनाया था, वह भी काफ़ी पसन्द किया गया। हमारी देखा-देखी यह प्रयोग अन्य विद्यालय भी कर रहे हैं।

विद्यालय में नित नए प्रयोग होते रहते हैं। यह शुरुआत हमने 6-7 साल पहले थर्माकोल के वेस्ट मटेरियल, एक टूटे हुए बैडमिंटन रैकेट और पीओपी की सहायता से एक कम्प्यूटर बनाकर की थी। इसमें हमने घर में वेस्ट पड़ा हुआ माउस और की-बोर्ड भी काम में लिया और स्क्रीन की जगह काली शीट का प्रयोग किया था। वह मॉडल हू-ब-हू असली कम्प्यूटर जैसा ही दिखाई देता था। बच्चे इसकी सहायता से कम्प्यूटर के प्रमुख भागों को आसानी से समझ पाए। अँग्रेज़ी के एक पाठ में कम्प्यूटर के बारे में बताया गया था। बच्चे इस मॉडल की सहायता से उस पाठ को आसानी से समझ सके। इसी प्रकार अभी कुछ दिन पहले ही विद्यालय में खिले हुए गुलमोहर और छोटे-छोटे पिंकी के फूलों की सहायता से बच्चों ने बेहद सुन्दर पेंटिंग बनाई।

बेकार चीज़ों को नया रूप देते समय उद्देश्य कलात्मक रहता है, परन्तु जैसे ही कोई वस्तु आकार लेती है तो उसमें स्वत: ही विद्यालय के पाठ्यक्रम अनुसार सम्भावनाएँ नज़र आने लगती हैं कि सामग्री का किस प्रकार से उपयोग हो। साथ ही इस तरीक़े के कार्यों से विद्यार्थियों में सृजनशीलता का विकास होता है।

दीपक : आपके स्कूल में पर्यावरण के हित में जो कार्य किए जा रहे हैं, उनके बारे में कुछ बताइए।

सुमन : पहले यहाँ सिर्फ़ एक बबूल का पेड़ था और बिजली भी नहीं थी। इस कारण गर्मियों के दिनों में बच्चों को काफ़ी परेशानी होती थी। इसी परेशानी को देखते हुए हमने वृक्षारोपण शुरू किया। समाजसेवी संस्थाओं की मदद से विद्यालय की चारदीवारी को ऊँचा करके हमने शहतूत, अशोक, गुलमोहर, नीम, जामुन, मीठा नीम, चम्पा, आदि के पेड़ लगाए। इनके अलावा आज लगभग 50 गमलों में कई तरह के पेड़-पौधे विद्यालय परिसर में हरियाली बिखेर रहे हैं। इसमें विद्यार्थियों का विशेष योगदान है जो बारी-बारी से सुबह-सवेरे इन गमलों और पेड़ों में बड़ी ही तन्मयता और रुचि के साथ पानी देते हैं। यहाँ तक कि छुट्टी के दिनों में भी वे नियमित रूप से विद्यालय के रख-रखाव पर ध्यान देते रहते हैं।

दीपक : विद्यालय के पुस्तकालय के बारे में भी कुछ बताएँ।

सुमन : शुरुआत में विद्यालय की लाइब्रेरी में कुछ ही पुस्तकें थीं। सामाजिक संस्थाओं और सरकारी सहायता से प्राप्त पुस्तकें मिलाकर आज

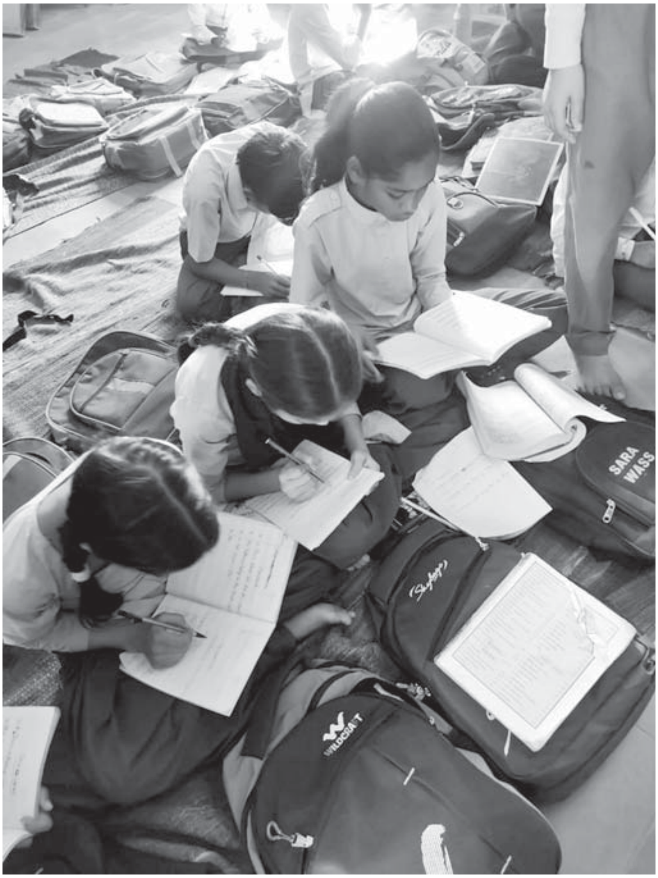


हमारी लाइब्रेरी में लगभग 1000 पुस्तकें हैं। विद्यालय में अतिरिक्त कमरा न होने के कारण हम पुस्तकों को प्रत्येक कक्षा के अन्दर साप्ताहिक रूप से एक मेज़ पर जमाकर रख देते हैं। बच्चे अपनी-अपनी पसन्द की किताबें उनमें से पढ़ते हैं। बच्चे लैंडिंग कार्ड के माध्यम से अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों को उसमें भरते हैं। 'नो बैग डे' के दिन भी विद्यार्थियों के लिए किसी एक किताब पर बुक टॉक और रीड अलाउड जैसी गतिविधियाँ कराई जाती हैं और बच्चों से संवाद कर किताब पर समझ विकसित की जाती है। आज बच्चे ढेर सारी किताबों पर अपनी स्वतंत्र राय व्यक्त कर पाते हैं। हालाँकि इसमें चुनौतियाँ भी कम नहीं थीं। प्रारम्भ में हमने अपने घर में उपलब्ध कहानी की किताबों से लाइब्रेरी की शुरुआत की, उसके पश्चात कुछ विद्यार्थियों ने पुस्तकों में इज़ाफ़ा किया। बाद में रोटरी क्लब के सहयोग से हमें 300 किताबें मिलीं, कुछ सरकारी सहयोग से प्राप्त हुईं और कुछ मित्रों व परिचितों ने भेंट कीं। लाइब्रेरी को बच्चे स्वयं ही संचालित करते हैं, क्योंकि उनमें किताबें पढ़ने की रुचि जागृत हो गई है।



दीपक : आसपास का समुदाय विद्यालय विकास में किस प्रकार का सहयोग प्रदान करता है? विद्यालय के प्रति उनका दृष्टिकोण कैसा रहता है?

सुमन : हर विद्यालय में एसएमसी या एसडीएमसी बनाई जाती है। इसके मार्फ़त विद्यालय में समुदाय के द्वारा विद्यालय विकास की योजना निर्माण व प्रस्तावों पर सहयोग और सम्भावनाओं की तलाश की जाती है। हमारे विद्यालय में भी छात्र संख्या के अनुसार पिछले 5 साल से अध्यापकों की कमी है। समुदाय के आसपास के लोग यद्यपि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं हैं, परन्तु यदा-कदा अपना सहयोग स्कूल के कार्यक्रमों में व्यवस्था और अध्यापन के लिए देते रहते हैं। समय-समय पर उनके साथ रूबरू बातचीत और बच्चों के माध्यम से संवाद भी होता रहता है। विद्यालय की समस्त गतिविधियों की जानकारी पूरी पारदर्शिता के साथ उन्हें दी जाती है। बच्चों के अभिभावकों से निरन्तर सम्पर्क रखा जाता है और विद्यालय के कामों में उनसे सहयोग लिया जाता है। विभिन्न बच्चों के माता-पिता क्या-क्या काम करते हैं, इसकी भी एक सूची बनाई गई है। इनमें कोई राजमिस्त्री हैं, कोई प्लम्बर, कोई लकड़ी का काम करते हैं, तो कोई बिजली का। यदि कोई कहीं पढ़ा रहे हैं तो ज़रूरत मुताबिक़ वे भी हमसे और हम भी उनसे सम्पर्क करते हैं। विद्यालय के कामों में वे कई बार सहयोग करते हैं। कई बार न्यूनतम मेहनताने पर, तो कई बार मुफ़्त में भी। बच्चों की तरह उनके अभिभावक भी विद्यालय के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं। वे शिक्षा के महत्त्व



और समुदाय में इसके प्रसार को लेकर सजग हैं। विद्यालय में, विद्यालय के प्रबन्धन, संचालन, यहाँ दी जा रही शिक्षा और चल रही तमाम गतिविधियों में उनका यक़ीन है। उन्हें लगता है कि उनके बच्चे सही जगह और सही हाथों में हैं।

दीपक : आपका विद्यालय भौतिक दृष्टि से काफ़ी सम्पन्न दिखाई देता है। आपने यह सब सामग्री किस प्रकार से जुटाई?

सुमन : हमारा विद्यालय भौतिक संसाधनों की दृष्टि से काफ़ी पिछड़ा हुआ था। ऐसे में आसपास के निजी विद्यालयों से हमारी प्रतिस्पर्धा और भी बढ़ गई थी। मूलभूत सुविधाओं के अभाव में विद्यार्थी विद्यालय में प्रवेश से भी कतराते थे। रोटरी क्लब 'गुरुकुल' द्वारा हमारे विद्यालय में बाउंड्री वॉल को ऊँचा करवाकर बालक-बालिकाओं के लिए पृथक-पृथक शौचालय निर्माण व फ़र्नीचर उपलब्ध करवाया गया। विद्यालय में सुन्दर रंगीन चित्रकारी करवाकर विद्यालय को टेक्नोलॉजी से जोड़ने के लिए स्मार्ट टीवी और कम्प्यूटर दिया और विद्यालय की लाइब्रेरी के लिए उन्होंने कुछ पुस्तकें भेंट कीं। इसके बाद अनेक संस्थाओं द्वारा सहयोग दिया गया और विद्यालय में आज पर्याप्त मात्रा में फ़र्नीचर, दो स्मार्ट टीवी, इंटरनेट, पानी की टंकी जैसी मूलभूत सुविधाएँ जन सहयोग से मिलने लगी हैं। आसपास के दानदाताओं से सम्पर्क साधकर विद्यालय में बिजली, पानी, शौचालय के अतिरिक्त खेल सामग्री, मंच और स्मार्ट कक्षाओं का निर्माण कराया गया। हालाँकि, यह कभी भी बहुत आसान नहीं था। आरम्भ में प्राथमिक स्कूल होने के नाते कोई भी व्यक्ति या संस्था विद्यालय के विकास में सहयोग देने के लिए तैयार नहीं होती थी। लगातार सम्पर्क, कई दौर की बातचीत और निराशा के कई दौर के बाद धीरे-धीरे जब लोगों को लगने लगा कि उनका धन और श्रम सही जगह पर लगेगा तो अब स्वतः ही वे इस दिशा में अपने क़दम आगे बढ़ा रहे हैं।

दीपक : आपके लम्बे सेवाकाल में बच्चों के कई बैच आए-गए होंगे। कोई याद रह जाने वाली घटना?

सुमन : जब मैं राजकीय प्राथमिक विद्यालय नंदगाँव में कार्यरत थी, उस दौरान विद्यालय में एक छोटा बच्चा था। उसे सब लोग गूँगा कहते थे। उसके घरवाले भी यह मानते थे कि वो बोलता नहीं है। मैं लगातार उससे संवाद करती

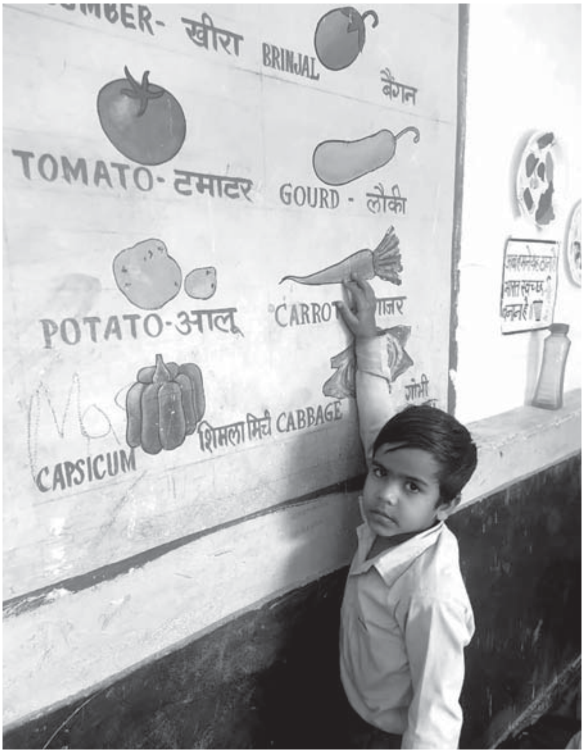
रहती थी। एक दिन मैंने देखा कि वह बच्चों से कुछ बोल रहा है। असल में वह बच्चा गूँगा नहीं था, लेकिन न जाने क्यों बचपन से ही वह किसी से भी संवाद नहीं कर रहा था। स्कूल के माहौल को अपने अनुकूल पाकर और बच्चों के सम्पर्क के बाद उसकी झिझक खुलने लगी और वह बोलने लगा था। यह यक़ीनन एक शिक्षक और व्यक्ति के रूप में मेरे लिए बेहतर होने का एक अवसर था और काम करने में यक़ीन के पुख़्ता होने का एक पड़ाव भी।

दीपक : शुरू में बच्चों के प्रति आपका व्यवहार कैसा था? अब अपने व्यवहार में कुछ बदलाव पाती हैं? बच्चों का आपके प्रति व्यवहार कैसा रहा है?

सुमन : प्रारम्भ में मेरा व्यवहार थोड़ा कठोर रहता था। प्रयास रहता था कि उन्हें किसी प्रकार से मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा सिखा पाऊँ। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता रहा, मैंने पाया कि मुझे बच्चों के प्रति अपनापन और शान्त व्यवहार रखना पड़ेगा जिससे वे मेरे साथ सहज महसूस कर पाएँ। समय के साथ मैंने अपने व्यवहार में बहुत परिवर्तन किया और सिखाने की प्रक्रिया को भी थोड़ा सरल और सहज किया। इस दौरान बच्चों के साथ-साथ उनके माता-पिता का भी मेरे प्रति बहुत विश्वास रहा। यही कारण रहा कि मैंने जिन-जिन स्कूलों में काम किया, वहाँ पर निरन्तर छात्र संख्या बढ़ी। जब बच्चे मेरी किसी भी बात का पालन उत्साह से करते हैं, मुझे लगता है कि बच्चों का मेरे किसी काम के प्रति विश्वास है।

एक बार नंदगाँव की एक अभिभावक मेरे पास अपने तीन बच्चों को लेकर आईं। उससे पहले उनके बड़े लड़के ने पढ़ाई नहीं की थी। वह मुझे बोलीं कि मुझे इन तीनों बच्चों को पढ़ाना है। मैंने भी बच्चों के साथ बहुत मेहनत की और बच्चों के माता-पिता ने भी विद्यालय में अच्छा सहयोग दिया। एक खेतिहर मज़दूर होने के बावजूद, वे 15 अगस्त व 26 जनवरी के उत्सव में बच्चों को अच्छा-ख़ासा इनाम देते थे। उनकी इच्छा थी कि उनके बच्चे उच्च शिक्षा ग्रहण करें। उन्हीं का एक बच्चा आज कृषि वैज्ञानिक है और दोनों बिटियाँ एमए कर चुकी हैं। यह हमारे लिए ख़ुशी की बात है कि इतने प्राइवेट स्कूल होने के बावजूद उन्होंने सरकारी स्कूल से ही अपने बच्चों को पाँचवीं तक शिक्षा दिलवाई। हाल ही में मुझे पता चला कि उनके बड़े लड़के, जो पढ़ा-लिखा नहीं है, ने भी अपने बच्चों को उच्च शिक्षा ग्रहण करवा दी है। एक शिक्षक के तौर पर, पढ़ाने के साथ-साथ सामाजिक जन-जागृति लाना भी एक महत्त्वपूर्ण काम है।

दीपक : प्राथमिक स्कूल के अध्यापक को किस प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है? आपकी चुनौतियाँ क्या रहीं? प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक का व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए?



सुमन : छोटे बच्चों को किस प्रकार से समझाया जाए, शुरू में यह कार्य बेहद कठिन प्रतीत हो रहा था। भाषा, सम्प्रेषण की एक मज़बूत कड़ी होती है। प्रारम्भ में स्थानीय भाषा के शब्दों की समझ न होने के कारण बच्चों से आत्मीयता के साथ तालमेल बैठाना थोड़ा कठिन कार्य होता था। धीरे-धीरे मैंने स्थानीय भाषा की समझ विकसित करने के साथ ही छोटे बच्चों के साथ काम करने के लिए क्रियात्मक विधि का उपयोग करना व खेल विधि से बच्चों को समझाना जैसी चीज़ें सीखीं और पाया कि बच्चे इन विधियों द्वारा आसानी से सीख पा रहे हैं।

गाँव के विद्यालयों में स्थानान्तरण हुए तो वहाँ आवागमन से लेकर आधारभूत सुविधाओं तक की समस्या से जूझना पड़ता था। अभिभावकों की स्कूलों के प्रति अरुचि भी एक बड़ी समस्या रही। वे शिक्षा और स्कूलों से अपने को जोड़कर नहीं देख पाते थे तो उनसे मिलना, उन्हें स्कूल में बच्चों को दाख़िले के लिए राज़ी करना एक विकट समस्या थी, लेकिन यह भी धीरे-धीरे हुआ।

प्राथमिक स्तर पर जो विद्यार्थी स्कूल आते हैं, उन्हें हम कच्चे घड़े की तरह मानते हैं। हालाँकि, वे अपने साथ अपने परिवेश से हासिल अनुभवों का एक समृद्ध संसार लेकर आते हैं। उन अनुभवों को स्कूली शिक्षा और परिवेश से जोड़ना, उनकी नींव मज़बूत करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। बच्चों को उपलब्ध संसाधनों के आधार पर शिक्षित करना भी एक चुनौती है। हम पाते हैं कि कभी-कभार बच्चों के पास कॉपी-पेंसिल जैसी ज़रूरी चीज़ें भी उपलब्ध नहीं होती हैं, ऐसे में बच्चों को यह सब उपलब्ध कराना, शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक सरोकारों और आसपास के वातावरण के प्रति संवेदनशील बनाना प्रमुख कार्य होता है। प्राथमिक स्कूल के अध्यापक में पर्याप्त धैर्य और संवेदनशीलता का होना बहुत आवश्यक है। एक पाँच साल का बच्चा जब हमारे पास पहली बार स्कूल में आता है तो वह हममें एक शिक्षक नहीं, अभिभावक खोजता है। बच्चों के साथ प्रेम और अपनत्व का व्यवहार उन्हें विद्यालय की तरफ़ आकर्षित करता है। साथ ही अभिभावकों को भी यह लगना चाहिए कि उन्होंने अपना बच्चा सुरक्षित हाथों में सौंपा है। समाज, अध्यापक और स्कूल का बेहतर आपसी तालमेल ही बच्चों के सीखने को समृद्ध कर सकता है। इसके साथ ही हमारा मृदु और ज़िम्मेदाराना व्यवहार ही बच्चों को विद्यालय में रोके रखता है।



दीपक : साथी अध्यापकों, उनकी चुनौतियों एवं प्रयासों के सन्दर्भ में आपका क्या कहना है?

सुमन : मैं देखती हूँ कि प्रत्येक अध्यापक अपने उद्देश्य की प्राप्ति में संघर्षरत और दृढ़-संकल्पित दिखाई देता है। तमाम शैक्षिक चुनौतियों के बाद भी हम सब शिक्षकों को भान होना चाहिए कि हम देश की नींव तैयार कर रहे हैं। ऐसे में हमें अपना काम पूरी तैयारी, ईमानदारी, निष्ठा और जज़्बे के साथ करना चाहिए। हम शिक्षकगण उस काम में लगे हुए हैं, जहाँ से एक बेहतर दुनिया के

सपने के सच होने की सम्भावनाएँ सबसे अधिक हैं। एक न्यायसंगत और समतामूलक समाज के लक्ष्य को शिक्षा के माध्यम से ही हासिल किया जा सकता है। एक सोचने–विचारने वाले नागरिक की सम्भावना भी शिक्षा की ही दुनिया से है जहाँ हम तर्कों और सवालों से जूझते हुए, अपनी मान्यताओं पर सवाल खड़े करते आगे बढ़ते हैं और सारी चीज़ों को परखकर ही कोई राय बनाते हैं। इसलिए मुझे लगता है कि हम शिक्षकों की ज़िम्मेदारी कुछ अधिक है और हमें आगे बढ़कर उसे स्वीकार करने और काम करने की ज़रूरत है।

सुमन विष्ट ने राजनीति विज्ञान और हिन्दी में स्नातकोत्तर और बीएड किया है। साथ ही आपने हिन्दी में पीएचडी की है। वर्तमान में राजकीय प्राथमिक विद्यालय हाज्या वाला सांगानेर शहर में कार्यरत हैं। आपको शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने के लिए कई मंचों व संस्थाओं द्वारा सम्मानित किया गया है। आपके पत्र–पत्रिकाओं में शिक्षा और सामाजिक मसलों पर लेख छपते रहते हैं। आपके द्वारा पर्यावरण, वृक्षारोपण व स्वच्छता के लिए बालकों के साथ नुक्कड़ नाटक व जनजागृति कार्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं।

सम्पर्क : sumanvisth@gmail.com

दीपक कुमार राय अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, जयपुर, राजस्थान में 2019 से रिसोर्स पर्सन के रूप में काम कर रहे हैं। आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर, और डीफ़िल डिग्री लेने के बाद उच्च शिक्षा में प्राध्यापक के रूप में अध्ययन–अध्यापन से जुड़े रहे। आपने ‘दिगंतर’ में एसोसिएट फ़ेलो के रूप में शैक्षणिक शोध से जुड़ी गतिविधियों में भागीदारी की है। आपकी इतिहास, साहित्य, विचार और वैचारिकी पर केन्द्रित लगभग एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हैं। आपने बिहार प्रगतिशील लेखक संघ की *पत्रिका रोशनाई*, साप्ताहिक समाचार पत्र *गणादेश, प्रतिश्रुति, आवाज़ जन मन की, संघतिया* आदि पत्रिकाओं के सम्पादन सहित *सैद्धान्तिकी* और *मतादर्श* नामक दो शोध पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया है।

सम्पर्क : deepak.rai@azimpremjifoundation.org

समतामूलक और समावेशी शिक्षा की संस्कृति

हर बच्चे के पास सीखने की क्षमता होती है और सीखने का उपयुक्त माहौल मिलने पर हर बच्चा सीख सकता है। यह समझ एक सामाजिक और संवैधानिक मूल्य है। समतामूलक और समावेशी शिक्षा के विचार का स्रोत इसी मूल्य से निकलता है। *पाठशाला भीतर और बाहर* का इस बार का संवाद इसी विषय पर आयोजित किया गया था। इस संवाद में अक्षत, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन बेंगलूरु से, दिनेश कर्नाटक, उत्तराखंड से, बृजेश, मुस्कान, भोपाल से, रश्मि पालीवाल, एकलव्य, भोपाल से और रोहित त्रिवेदी, आरुषि, भोपाल से शामिल हुए। -सं.

रश्मि : पहला प्रश्न यह है कि समतामूलक शिक्षा और समावेशी शिक्षा के क्या मायने हैं और यह हमारे लिए क्या अर्थ रखती है?

रोहित : समतामूलक शिक्षा का अर्थ है सबको शिक्षा मिले, सबका शिक्षा पर बराबरी का अधिकार हो। ऑन पेपर सबको राइट टू एजुकेशन है यानी सबका स्कूल तक पहुँचकर शिक्षा पाने का अधिकार है। मगर सब स्कूल और शिक्षा तक पहुँचें और शिक्षा सब तक पहुँचे, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। कई वर्ग ऐसे हैं जिनको शिक्षा तक पहुँचाने के लिए बहुत सारे प्रयास करने पड़ेंगे। ख़ासतौर पर, अगर हम पर्सन विद डिसेबिलिटीज़ की बात करते हैं तो बहुत-सी चुनौतियों के कारण शिक्षा उन तक नहीं पहुँच पाती। उसके बहुत-से कारणों पर बाद में जाएँगे। जब तक सब लोगों तक शिक्षा की पहुँच नहीं है, यह नहीं कहा जाएगा कि सबको समतामूलक शिक्षा मिल पा रही है।

समावेशी शिक्षा यह है कि अगर बच्चे स्कूल में आ जाते हैं, तो भी उनके साथ तरह-तरह का भेदभाव होता है। स्कूल में सुविधाएँ, उपयुक्त वातावरण नहीं मिल पाता, और उनका अनुकूलन नहीं हो पाता। शिक्षक, बच्चे, बच्चों के अभिभावक और पूरा समाज, इन सभी की वेवलेंथ एक हो तभी समतामूलक और समावेशी शिक्षा के लक्ष्य को हासिल कर सकते हैं।



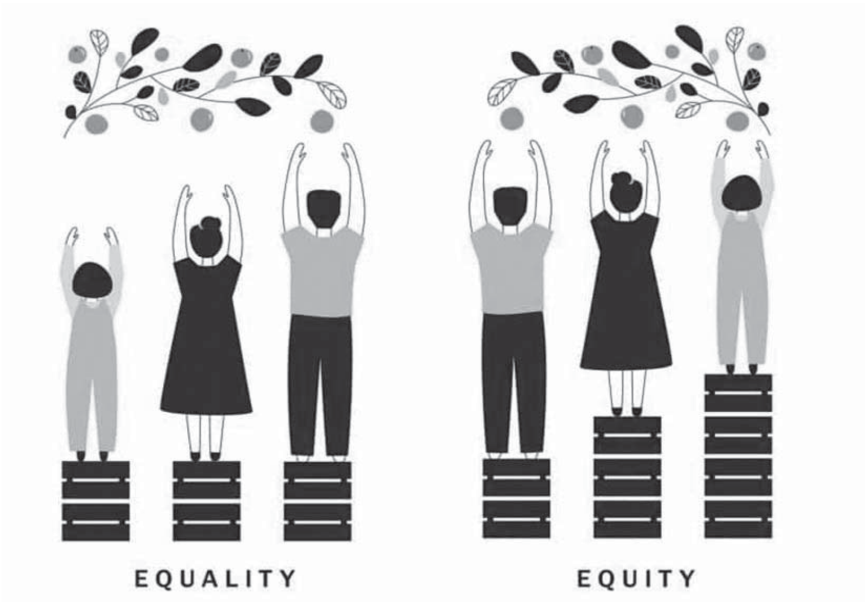
चित्र : हीरा धुर्वे

हम एक लोकतांत्रिक देश में रहते हैं। हम चाहते हैं

कि हमारी शिक्षा और हमारे संवैधानिक मूल्यों में जुड़ाव हो। शिक्षा ऐसी हो, जहाँ विद्यार्थी, अभिभावक और शिक्षक को यह न लगे कि वह जिस शिक्षा की बात कर रहे हैं, वह अन्य से श्रेष्ठ अथवा कमतर है। मुझे लगता है कि समतामूलक और समावेशी शिक्षा का ऐतिहासिक-राजनीतिक सन्दर्भ समझने की जरूरत भी है। आज से 100 साल पहले हम समतामूलक और समावेशी की बात नहीं कर सकते थे। यह बात लोकतांत्रिक समाज की कल्पना से शुरू हुई। शिक्षा में हम समानता की बात करते हैं और यह शब्द बहुत अच्छा लगता है, लेकिन हमारे जीवन, समाज और शिक्षा से यह ग़ायब हैं। उसकी एक वजह यह है कि विद्यालय लोकतांत्रिक नहीं हैं। यह सवाल भी है कि राज्य जिस लोकतंत्र और मूल्यों की बात करता है, क्या वह उन्हें वास्तव में विद्यार्थियों तक पहुँचाता भी है? मुझे लगता है कि जब हम समानता और समावेशी शिक्षा की बात करें तो हमारी नज़र हमारे आसपास के यथार्थ पर भी हो। संविधान में न्याय, बराबरी, बन्धुत्व, सभी अच्छी बातें हैं, लेकिन यथार्थ में शिक्षा की उपलब्धता कई स्तरों पर बँटी हुई है। स्पष्ट कहूँ तो किसी सरकारी विद्यालय में अगर उपयुक्त माहौल बना दिया भी जाए तब भी हममें यह एहसास तो रहता ही है कि यह स्कूल समतामूलक शिक्षा का हिस्सा नहीं है।

रश्मि : हालाँकि सामन्ती और राजशाही युग समाप्त हो गया, और लोकतंत्र के आने से सबको शिक्षा मिले, यह बात आम मान्यता के रूप में प्रचलित ज़रूर हो गई लेकिन फिर भी क्या शिक्षा समतामूलक हो पाई? क्या शिक्षा सबको मिल सकी, क्या हर एक को एक ही स्तर की गुणवत्ता की शिक्षा मिल पा रही है? समाज की मानसिकता की वजह से सबको शिक्षा उपलब्ध कराने की कोशिश के बावजूद भी शिक्षा दरअसल समतामूलक नहीं हुई।

बृजेश : समतामूलक और समावेशी शिक्षा का मतलब है कि सभी बराबर हैं, हर बच्चा बराबर है और उसको बराबर के अवसर मिलने चाहिए। हमारी शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो जिसमें, जाति, लिंग, धर्म या अन्य किसी आधार पर किसी भी तरह का कोई भेदभाव, बच्चे के साथ न हो। हमारे साथी वक्ता सवाल उठा रहे थे कि वास्तव में स्कूलों में कैसी स्थिति है, क्या स्कूल सचमुच में समावेशी हैं, क्या वो समतामूलक स्कूल की अवधारणा पर संचालित हो रहे हैं? हम देखते हैं कि यह बस कल्पना



है। हम कचरा चुनने वाले पारधी समुदाय के बच्चों के साथ काम कर रहे हैं। कचरा चुनने का काम करते हुए इन बच्चों ने कभी-कभार स्कूल जाने की कोशिश भी की, लेकिन स्कूल के अन्दर शिक्षकों और सहपाठियों के द्वारा जिस भेदभाव का इन बच्चों ने सामना किया, वह असहनीय था। इन बच्चों के लिए स्कूल में जगह नहीं बन सकी। ये बच्चे स्कूल या उस कक्षा के कमरे को अपना नहीं मान सकते। उसे वे ऐसी जगह नहीं मान सकते, जिसका दरवाज़ा उनके लिए खुला हो। स्कूल के प्रति अपनेपन की भावना इन बच्चों में कभी नहीं पनप पाई। इस समुदाय के लगभग 99 फ़ीसदी बच्चे स्कूल से बाहर ही रहे हैं। ऐसा नहीं है कि समुदायों ने कोशिश नहीं की और बच्चे स्कूल नहीं भेजे गए। वे मानते हैं कि यही एकमात्र जगह है, जहाँ पर कुछ सीखा जा सकता है, लेकिन स्कूलों में बच्चे अन्ततः ड्रॉप आउट ही हुए। समाज में जिस तरह की ग़ैर-बराबरी है, वह स्कूलों के अन्दर भी दिखती है। अलग-अलग क्षमता वाले व्यक्ति अपने बच्चों के लिए अलग तरह का स्कूल देख रहे हैं। जैसे– एलीट स्कूल में एक ख़ास वर्ग के बच्चे जाते हैं, मेहनतकश समुदाय के बच्चों के साथ इन बच्चों का कोई इंटरैक्शन नहीं है, उनके बीच संवाद का कोई मंच नहीं है, और इन अलग-अलग स्कूलों से निकले हुए बच्चों की जीवन शैली बाद में भी अलग-अलग होगी। हम समावेशी समाज की बात कर रहे हैं, जहाँ लोगों का बराबर का स्थान हो, लोगों के बीच में संवाद का मंच हो, लोग एक दूसरे के साथ सीखें-समझें, इस तरह के अवसर स्कूलों में मौजूद नहीं हैं।

रश्मि : रुचिकर और आनन्ददायी शिक्षा सबको उपलब्ध हो यह सभी स्कूलों में हो सकता



चित्र : हीरा धुर्वे

है। सरकारी स्कूलों में भी जॉय ऑफ़ लर्निंग प्रोग्राम चल सकता है और एलीट स्कूल में भी। पर बात सिर्फ़ शिक्षा की गुणवत्ता की ही नहीं बल्कि शिक्षा के तौर-तरीक़ों की भी है। आपने जो कहा है, उसमें यही उभरकर आता है कि शिक्षा की गुणवत्ता और उसका तरीक़ा सरकारी स्कूलों में भी वैसे ही लागू करें लेकिन क्या हम इन स्कूलों को वही स्तर, वही साधन, वही सुविधाएँ दे पाते हैं?

बृजेश : आपने जो कहा उससे तीन सवाल मेरे मन में उभरते हैं। पहला, शिक्षा की गुणवत्ता और उसका तरीक़ा। क्या हम सरकारी स्कूलों में भी वही स्तर, वही साधन, वही सुविधाएँ, वही तरीक़े दे पाते हैं, जो एलीट स्कूलों में हैं? दूसरा, क्या स्कूलों में हमारा दृष्टिकोण, भेदभाव मिटाने वाला और एकता लाने वाला हो पाता है? तीसरा, क्या शिक्षा की दिशा के साथ-साथ समाज की दिशा भी इसमें पूरी तरह से शामिल रहती है? जब समतामूलक शिक्षा की बात करते हैं, तब केवल शिक्षा की गुणवत्ता की बात नहीं होती बल्कि समाज की दृष्टि की बात केन्द्र में हो जाती है।

अक्षत : हमारा समूह संवैधानिक मूल्यों पर काम करता है। हम अलग-अलग क्षेत्रों में, अलग-अलग मुद्दों पर काम करते हैं। कोई कला और संस्कृति पर काम करता है, कोई दलित, आदिवासी समुदाय के साथ, तो

कोई बच्चों के साथ। इन सबके माध्यम से हम संवैधानिक मूल्यों पर केन्द्रित करते हैं। चर्चा के सन्दर्भ में मैं अपने तीन अनुभवों को संक्षेप में रखूँगा। अभी कुछ दिन पहले ही एक यात्रा में एयर होस्टेस ने सहयात्री से पूछा कि आप हिन्दी में बात करेंगे या इंग्लिश में। यात्री ने जवाब दिया कि मैं तो आपसे चाइनीज़ और जैपनीज़ में भी बात कर लूँगा। वह एयर होस्टेस उत्तर-पूर्व की थी। दूसरी घटना राजस्थान के राजसमंद ज़िले की है। हमारे कुछ साथी बच्चों के साथ मिलकर पुस्तकालय चला रहे हैं। बच्चों से बात करते हुए मैंने पूछा, आप बड़े होकर क्या बनना चाहते हो? कुछ बच्चों ने कहा, आर्मी में जाना चाहते हैं। आर्मी में क्यों जाना चाहते हो, का जवाब था कि मैं मुसलमानों को मारना चाहता हूँ। तीसरी घटना बिहार के गोपालगंज की है। वहाँ भी छात्रों के एक समूह से मैं मिला। कमला भसीन की छोटी-छोटी पुस्तकें, स्कूलों में और पुस्तकालय में रखी हैं उनपर बच्चों के साथ बातचीत होती है। बच्चों से पूछा गया कि उनके लिए आज़ादी का मतलब क्या है? बच्चों का जवाब था आज़ादी का मतलब है, मैं और भी पढ़ूँ। इन तीन घटनाओं में मेरे हिसाब से एक चीज़ कॉमन है। वह यह कि अगर हम समतामूलक शिक्षा की बात कर रहे हैं तो हमें यह समझना होगा कि हम बच्चे को क्या सिखाएँ और कैसे सिखाएँ? हम सभी जानते हैं कि हमारा देश विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों का देश है। एक ही गाँव, एक ही क़स्बे में, भिन्न-भिन्न समुदाय के लोग रहते हैं और उस गाँव या क़स्बे में एक स्कूल होता है। उस स्कूल में विभिन्न जाति, धर्म के बच्चे आने चाहिए। इस तरह की विविधता पूरे देश में है, जिसमें असमानता भी है। असमान जगहों से आकर, बच्चे स्कूल में विश्वास, ख़ुशी, बिना डर, व आज़ादी के साथ रह सकें और गम्भीर प्रश्नों पर संवाद कर सकें, यह होना चाहिए। क्या स्कूल में अभी इन चीज़ों पर बच्चों के साथ हम संवाद कर सकते हैं? यह गम्भीर प्रश्न आने वाले समय और अभी के लिए उठकर आ रहा है।

रश्मि : आपने एक नया आयाम खोल दिया है। अभी तक बात यह थी कि समाज में मौजूद ग़ैर-बराबरी, स्कूलों व शिक्षा को कैसे प्रभावित करती है, क्योंकि समाज में समतामूलक मूल्य नहीं हैं, अतः वह शिक्षा व्यवस्था में भी नहीं दिखाई देता है। शिक्षा का दायित्व है कि वो समतामूलक समाज की कल्पना को आगे बढ़ाए और बच्चों में इन मूल्यों की समझ बनाने में मदद करे, ताकि बच्चे समतामूलक समाज की रचना में अपने-आप को लगाएँ। आपने समतामूलक समाज बनाने में स्कूल के दायित्व की तरफ़ इशारा किया है।



अभी हाल ही में अख़बार में ख़बर थी कि दिल्ली की एक मिडिल क्लास कॉलोनी के लोग सड़क पर धरने के लिए इसलिए उतर आए क्योंकि उनकी कॉलोनी के पास की ख़ाली पड़ी सरकारी ज़मीन पर सरकार ने सरकारी स्कूल के बच्चों के लिए स्पोर्ट्स फ़ेसिलिटी बनाने का निर्णय लिया था। उसको बनाने का काम शुरू हो ही रहा था कि कॉलोनी के लोगों ने

उसे रोकने की कोशिश की। उनका कहना था कि यहाँ अगर सरकारी स्कूल के बच्चे भी खेलने आएँगे तो सुरक्षा का ख़तरा हो जाएगा और भीड़ बढ़ जाएगी।

अब आप सोचिए, भीड़ इसलिए हो रही है क्योंकि हर एक परिवार दो-दो, गाड़ियाँ रख रहा है। उनके बच्चों को स्कूल से लेने-छोड़ने के लिए गाड़ियाँ आती-जाती हैं, उससे भीड़ हो जाती है, रोड पर दिक़्क़त होती है। लेकिन यह बात वह अपने ऊपर बिलकुल नहीं लेंगे।

ऐसा भी कहा गया कि इस स्पोर्ट्स फ़ेसिलिटी का उपयोग हमारे बच्चे तो करेंगे नहीं क्योंकि वे सरकारी स्कूल में जाते ही नहीं। तो फिर हम अपने रहन-सहन, अपनी सुविधाओं पर क्यों आफ़त आने दें। अतः सरकार को फ़ेसिलिटी नहीं बनानी चाहिए। इतने 'पढ़े-लिखे', इतने 'सजग', और अच्छे ओहदों पर आसीन लोग मूल्यों की समझ और उनमें निष्ठा नहीं रखते।

रोहित : आज़ादी के बाद से ही हमारी स्कूली शिक्षा में बहुत बड़ा संकट यह है कि शिक्षा हमारे राज्य या हमारे देश के सामने कभी प्राथमिकता के रूप में नहीं आई। हमारे सामने संकट अभिभावकों की ओर से भी है, राज्य और समाज की ओर से भी। शिक्षा के उद्देश्य को लेकर अभिभावकों और स्कूल में बड़ी गफ़लत है। कुछ ही लोग यह समझते हैं कि स्कूली शिक्षा एक बेहतर मनुष्य के निर्माण के लिए भी है। लेकिन जब तक शिक्षा का एक सही उद्देश्य और एक दिशा नहीं बनेगी, तब तक समतामूलक और समावेशी शिक्षा में बड़ी पेचीदगियाँ और जटिलताएँ रहेंगी।

रश्मि : शिक्षा को समतामूलक और समावेशी बनाने के लिए हमने अपने स्तर पर, अपनी संस्थाओं में किस तरह के प्रयास किए हैं और उनसे हमें क्या सीखने को मिला है, इन प्रयासों में जो चुनौतियाँ आपको दिखीं, बताइएगा। ऐसे प्रयासों को भी बताइए जो आपने ख़ुद नहीं किए हैं लेकिन आपको अनुकरणीय और महत्त्वपूर्ण लगते हैं?

रोहित : पिछले 32-33 वर्षों से काम करते हुए यह एहसास हुआ है कि बहुत सारे प्रयास कई स्तरों पर करने होंगे तभी एक समतामूलक समावेशी समाज या परिवेश का निर्माण हम कर पाएँगे। हम लोग स्कूलों में गए तो पाया कि स्कूल विकलांग बच्चों को प्रवेश ही नहीं देते थे। उनसे कहा जाता था कि यह स्कूल तुम्हारे लिए नहीं है। बच्चों के अभिभावक यह सुनकर ही मायूस हो जाते थे। जो विशेष संस्थाएँ हैं उनमें भी इंफ्रास्ट्रक्चर अच्छा नहीं होता। फिर ऐसे बच्चों को समाज के साथ समावेशित होने का जो माहौल मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता और बच्चे समाज से अलग-थलग हो जाते हैं।



चित्र : हीरा धुर्वे



हम लोगों ने स्कूलों में सेन्सिटाइज़ेशन प्रोग्राम शुरू किए। शिक्षकों को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। समाज में जागरूकता की ज़रूरत महसूस की तो वहाँ भी काम किया। फ़िल्में दिखाकर, रोल मॉडल दिखाकर, पोस्टरों के माध्यम से एक माहौल बनाने की कोशिश हम कर रहे हैं। दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा बैरियर है। अगर हमारा दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं है तो हम कितने भी प्रयास कर लें, सफल नहीं होंगे। सबसे बड़ी चुनौती है समाज के हर वर्ग के दृष्टिकोण को बदलना और उसको सकारात्मक बनाना। कई बार लोगों को विकलांग बच्चे की क्षमताओं, जैसे, वह क्या काम कर सकता है, कहाँ पढ़ सकता है, कैसे पढ़ सकता है, यह सब नहीं पता होता। हमारा ब्लाइंड बच्चा कंप्यूटर पर भी काम कर सकता है, ब्रेल लिखकर भी। लोगों में यह जागरूकता नहीं है कि इन बच्चों में भी क्षमताएँ होती हैं।

इंफ्रास्ट्रक्चर भी एक समस्या है। जो भी स्कूल भवन बन रहे हैं, उनमें फिजिकल बैरियर हैं। रैम्प, रेलिंग, टॉयलेट कुछ नहीं हैं। सबसे बड़ी समस्या टॉयलेट की है। बच्चा स्कूल तो आ जाएगा, लेकिन कब तक कोई उसे उठा-उठाकर टॉयलेट तक लाएगा। बिना टॉयलेट के बच्चे कैसे 8 घण्टे तक स्कूल में रहेंगे? ख़ासतौर पर लड़कियाँ और फिर वह बच्चे जिनकी विशेष शारीरिक ज़रूरतें हैं। इस तरह के मुद्दों को हम सामने ला रहे हैं। कोशिश है कुछ बात (मोमेंटम) बन पाए।

बृजेश : हम जिन समुदायों के साथ काम कर रहे हैं वहाँ बहुत-से बच्चे स्कूल से ड्रॉप आउट हैं। हमने इन बच्चों को सरकारी या प्राइवेट स्कूलों में, प्रवेश दिलाने की कोशिश की। लेकिन कुछ बच्चे 6 महीने बाद, कुछ 2 महीने बाद तो कुछ सालभर बाद ड्रॉप आउट हो गए। वजह थी कि स्कूल में बच्चों के साथ भेदभाव होता था। यह भी कि बच्चों को शिक्षण प्रक्रिया बिलकुल भी समझ में नहीं आती तो वे स्कूल छोड़ देते हैं। फिर हमने अपना ख़ुद का स्कूल शुरू किया। इसमें हमने बच्चे के स्तर को देखते हुए उन्हें सिखाने की कोशिश की, उन्हें स्तर अनुसार चुनौतियाँ व अवसर दिए ताकि बच्चे अपने स्तर और गति से बढ़ सकें। दूसरा प्रयास यह किया कि हम कक्षा में बच्चों को अभिव्यक्ति के बहुत मौक़े दे रहे हैं। बच्चे अपनी भाषा में बोलने और लिखने के लिए आज़ाद हैं। उनकी अपनी भाषा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी कोई दूसरी भाषा। इससे बच्चों में अपनी भाषा के प्रति भी सम्मान का भाव पैदा होता है। इससे वे आत्मविश्वासी बनते हैं, और शिक्षक की बात व पुस्तक से जो समझे, उस बात को अपने दोस्तों को अपनी भाषा में समझाने की कोशिश भी करते हैं। यह एक तरह से टू वे लर्निंग प्रोसेस है। शिक्षक बच्चों की भाषा व बच्चों से कुछ सीख रहे हैं और बच्चे शिक्षक से सीख रहे हैं। हमने अभिभावकों को भी स्कूल गतिविधियों में शामिल करने की कोशिश की। आमतौर पर शिक्षा में समुदाय की कोई सहभागिता दिखाई नहीं देती। हमने इस तरह का एक मंच बनाने की कोशिश की कि समुदाय से कुछ लोग अपने क़िस्से-कहानियाँ बच्चों को सुनाएँ। ऐसी शिक्षा हो, जिसमें समुदाय भी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शामिल हो सके। इसके साथ ही हमने बच्चों



चित्र : हीरा धुर्वे

के परिवेश से जुड़ी शिक्षण सामग्री एकत्रित की और बच्चों को पढ़ने के लिए दी, और उन्हें लिखकर बच्चों के बीच ज़ोर से बोलकर पढ़ा। बच्चों को उन कहानियों को पढ़ने, उनपर चर्चा करने के लिए कहा, और फिर उन्हें भी अपने जीवन के अनुभव लिखने के लिए प्रेरित किया। बच्चों ने बहुत अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखीं। हमने उन्हें प्रकाशित भी किया, ताकि एक अलग तरह का साहित्य जो वंचित समुदाय के जीवन को दर्शाता है, बाहरी दुनिया तक भी पहुँच सके।

रश्मि : अलग-अलग वर्ग, जाति या धर्म के बच्चे कैसे साथ मिलकर सीख सकते हैं, इसके अनुभव बताएँ। जहाँ सामाजिक भेद हैं, उनको पाटने में क्या समावेशी वातावरण बनाने की कोई सम्भावना आपको दिखी?

बृजेश : हम अलग-अलग समुदाय के बच्चों, पारधी, गोण्ड आदि, के साथ काम करते हैं। इनकी आपसी दोस्ती नहीं होती थी। जब काम शुरू हुआ तो उनके बीच बहुत ज़्यादा संवाद नहीं था। कचरा बीनते हुए यह बच्चे यदि दूसरी बस्ती में पहुँच जाते तो बहुत झगड़ा हो जाता था। आज ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। अब कक्षा में गोण्डी और पारधी बच्चों के बीच संवाद सम्भव है। दोनों अपनी-अपनी भाषा भी सीख रहे हैं, और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में साथ में शामिल भी हो रहे हैं। हमने यह भी कोशिश की कि सरकारी स्कूल, मुस्कान के व अन्य प्राइवेट स्कूल के बच्चे एक कॉमन मंच पर मिल पाएँ और अपने विचारों व अनुभवों को साझा करें। इसलिए बाल मेले किए व कई तरह से लगातार कोशिश की, लेकिन इन चीज़ों को करने में थोड़ी मुश्किल रही है। स्कूलों और अभिभावकों की तरफ़ से भी काफ़ी प्रतिरोध हमें झेलना पड़ा। प्राइवेट स्कूल के बच्चों के अभिभावकों ने भी कहा कि यह न करें।

रोहित : शासन ने सब बच्चों को प्रवेश देने का कह दिया है। राइट टू एजुकेशन एक्ट के बाद प्राइवेट स्कूल में भी 25 फ़ीसदी सीटें वंचित वर्ग के लिए हैं। डिसेबल्ड बच्चों की भी इन स्कूलों में प्रवेश की गुंजाइश बनी है। मगर जब फ़ेसिलिटी देने की बात होती है तो सरकारी व प्राइवेट दोनों स्कूल पीछे हट जाते हैं। विशेष मदद नहीं होने से बच्चे का समावेशन हो ही नहीं पाता। उदाहरण के लिए, अगर ब्लाइंड बच्चा है, तो उसको मोबिलिटी भी चाहिए, ओरिएंटेशन भी चाहिए, ट्रैक्टाइल डायग्राम, एक्सेसबल फ़ॉर्मेट में किताबें या ई-टेक्स्ट भी चाहिए। यह सुविधाएँ उसे नहीं मिल पातीं।

प्रशिक्षण में भी समस्या है। बच्चा कहीं और पढ़ता है और शिक्षक प्रशिक्षण किसी और स्कूल के शिक्षकों को दिया जाता है। फिर जब कोई

डिसेबल्ड बच्चा पढ़ने आता है, तब तक शिक्षक भूल चुका होता है। विशेष आवश्यकताएँ इतने सारे आयामों वाली हैं कि सभी के लिए एक ही शिक्षक तैयार नहीं हो सकता। हम यही कर सकते हैं कि शिक्षक को यह एहसास करा पाएँ कि विकलांग बच्चा है तो उसके लिए ऐसी एजुकेशनल प्रैक्टिसेस को अपनाएँ जिनसे बच्चे को भी फ़ायदा हो और जो दूसरे बच्चे हैं, उनको भी लाभ मिल जाए। मान लीजिए, आपने एक थ्री-डाइमेंशनल मॉडल डिस्प्ले किया, तो हो सकता है कि इससे सभी को फ़ायदा होगा। ऐसे लर्निंग एक्सपीरियंस हम बच्चे को नहीं दे पा रहे हैं।

साथ ही निवेश की बहुत बड़ी समस्या है। सिद्धान्त में, नीति दस्तावेज़ में गाइडलाइंस में यह सब लिख देना अच्छा है, पर यह यथार्थ नहीं है। जो दिशा तय की गई, उसे करने के लिए जितने निवेश, जितनी पूँजी और ऊर्जा की ज़रूरत है, उससे हम बहुत दूर हैं। उसके लिए कोई दबाव भी नहीं बन रहा है। दबाव बनाने की ज़रूरत है क्योंकि उसके बग़ैर यह नहीं होगा।

दिनेश : मैं उत्तराखंड से हूँ, और नैनीताल जनपद के सरकारी स्कूल में पढ़ाता हूँ। समतामूलक व समावेशी शिक्षा की बात नई नहीं है। हम लोग विद्यालयों में प्रशिक्षण लेकर आए। मैंने यह महसूस किया कि वास्तव में जो हमको पढ़ाया जाता है, व्यवहार में नहीं था। सिद्धान्त में बहुत अच्छी बातें होती हैं, पर वे स्कूल में दिखाई नहीं देतीं। 12-13 साल पहले उत्तराखंड के लिए पाठ्यपुस्तक निर्माण कार्य में कई जगह से शिक्षक आए थे। हम सभी ने महसूस किया कि बहुत जल्दी ही हमारा शिक्षा से लगाव छूट रहा था, बस एक काम (नौकरी) की तरह उसे करने लग गए। दूसरा, यह लगा कि हम अपने अधिकार की माँग तो बहुत करते हैं लेकिन शिक्षक समाज कहीं भी शिक्षा की बात करता हुआ नज़र नहीं आता।

हमने सोचा कि हम शिक्षकों का मक़सद सिर्फ़ नौकरी करना न हो, उससे हमारा आत्मीय जुड़ाव हो, तभी परिवर्तन दिखाई देगा। दूसरा, हमने ख़ासतौर पर बच्चों और स्त्रियों की स्थितियों के बारे में महसूस किया कि हमारे समाज के मूल्य सामन्ती होने से उनमें बड़ी गड़बड़ है। यह गड़बड़ व्यक्ति का पीछा नहीं छोड़ती, उसके साथ बनी रहती है। शिक्षकों के साथ भी यह गड़बड़ बनी रहती है। इसपर बात करने की ज़रूरत है। अतः हम लोगों ने विभिन्न शैक्षिक मंचों पर शिक्षा पर विमर्श शुरू किया। यह पहल समझ के स्तर पर थी, शिक्षा के उद्देश्यों को समझना, उनपर विमर्श करना, आदि। हम समझना चाहते थे कि बच्चों के साथ समानता का व्यवहार कैसे हो; कैसे उनको लगे कि वो भी शिक्षा का अहम हिस्सा हैं; कैसे



शिक्षक बच्चों के सामने अच्छे इंसान के रूप में प्रस्तुत हों; सही शिक्षा की अवधारणा, जिसमें कहा जाता है कि हम मिलजुलकर सीखेंगे, क्या है? इन सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए हमने कई प्रयोग किए। हमने मूल्यांकन में बच्चों को सम्मिलित किया, उन्हें अपना मूल्यांकन ख़ुद करने के लिए कहा। हालाँकि, इस व्यवस्था के अन्दर यह कठिन होता था, पर हमने किया। शिक्षण के स्तर पर ये प्रयास था कि हर वर्ग या जाति के बच्चे के साथ समावेशी व्यवहार करें।

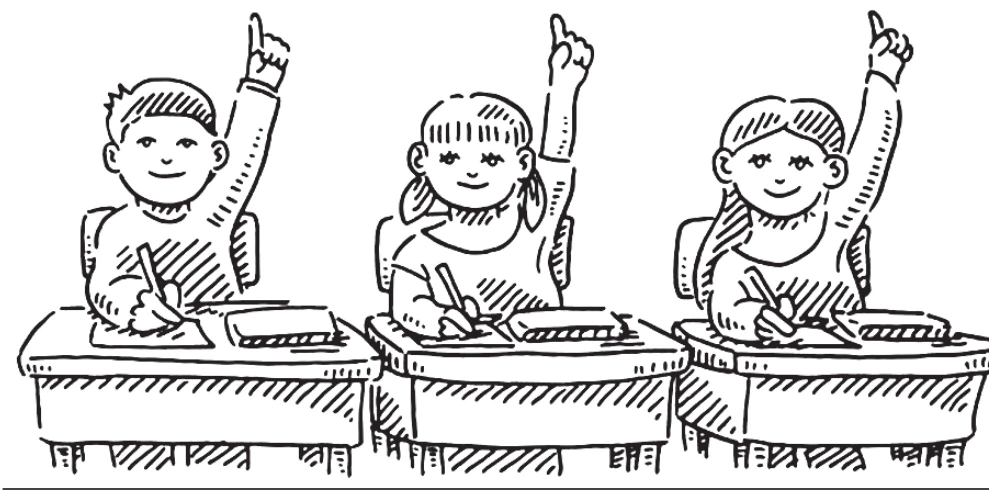
इस पूरी प्रक्रिया में हमने पुस्तकालयों पर काफ़ी ज़ोर दिया, ताकि बच्चे और शिक्षक पढ़ें और विभिन्न मुद्दों पर चर्चा करें। विद्यालयों में आमतौर पर जो पुस्तकालय बन्द रहते हैं उनको कैसे जीवन्त बनाएँ और बच्चों से जोड़ें? कक्षाओं में ऐसे किताब कोने कैसे बनाएँ जिनमें बच्चों की भागीदारी हो? इस तरह की कुछ कोशिशें हम लोग कर रहे हैं।

रश्मि : अपने मुख्य प्रयासों को आपने रखा है और उनमें कई चुनौतियाँ दिखाई देती हैं। इन चुनौतियों के लिए क्या प्रयास करने चाहिए? ऐसे क्या प्रयास किए जा रहे हैं जो हमें ताक़त देते हों, आशा दिखाते हों?

रोहित : हमारे इंटरवेंशन में हम इस बात का ध्यान नहीं रखते कि हम सब वर्गों को कैसे समायोजित कर पाएँगे। जैसे, जब गतिविधि-आधारित शिक्षण की बात हुई, यूनिसेफ़ ने बहुत सारी किताबों को चित्रात्मक बना दिया। यह नहीं सोचा कि एक ब्लाइंड बच्चा इन्हें कैसे पढ़ पाएगा; उसे अतिरिक्त सामग्री कैसे देंगे; क्या उसे पूरक किट देंगे ताकि वह भी इसका अनुभव कर पाए?

अक्षत : हम बच्चों के साथ संवैधानिक मूल्यों पर काम कर रहे हैं। हमारे काम में एक आयाम पुस्तकों का है। अलग-अलग भाषा और विधा वाली चुनिन्दा किताबें, जो जेंडर भेदभाव, जाति या धार्मिक भेदभाव सहित अलग-अलग मुद्दों को सम्बोधित करती हों, पुस्तकालयों में उपलब्ध करवाना। पुस्तकालय की अवधारणा नई नहीं है, लेकिन इसको नयापन देने की कोशिश है। हम स्कूलों के साथ जुड़ रहे हैं और समुदाय में भी। अभी शुरुआती चरण है, लेकिन अलग-अलग राज्यों और अलग-अलग स्कूलों में इसको समावेशी बनाने की कोशिश है। एक ऐसा स्थान, जहाँ बच्चे किताबों के साथ बिना डर के रूबरू हों, सुरक्षित वातावरण में अपनी बातों को सामने रख सकें।

रश्मि : एक अलग मानसिकता, एक अलग संस्कृति का निर्माण करना सबसे बड़ी चुनौती है। ऐसी संस्कृति के निर्माण के लिए साहित्य भी ऐसा हो जिसमें यही मूल्य दिखें, चुनिन्दा सामग्री उपलब्ध हो और उसका प्रचार-प्रसार हो। बच्चे



और शिक्षक को उनकी जानकारी हो और वे उसे पढ़ें, उसपर मनन करें व लिखें, इसी से एक नई समझ आ सकती है। इसमें मेहनत और समय लगेगा और यह करना हम सबकी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी बन जाती है।

रश्मि : मैं बृजेश के उदाहरण पर लौटना चाहती हूँ कि संस्कृति निर्माण में एक तरफ़ सामग्री, किताबों, बाल पत्रिकाओं या शिक्षक के समाचारपत्र की बात है, पर साथ ही ठोस अनुभव भी बहुत ज़रूरी हैं।

आपने विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के साथ जो कार्यक्रम किए, उनमें कितना समावेशन सम्भव हो पाया? अलग-अलग वर्ग के लोग उनमें जुड़कर एक नई मानसिकता कैसे बना पाए? इससे सम्बन्धित आप अपना कुछ अनुभव बताएँ।



रोहित : हमारे प्रयास दो तरह से मददगार होते हैं। जो डिसेबल्ड बच्चे हैं, उनका आत्मविश्वास बढ़ता है, उनमें जागरूकता आती है और उन्हें लगता है कि वह भी समाज का हिस्सा हैं।

रश्मि : एक डिबेट रही है कि समावेशन की बात अच्छी है, लेकिन अगर बच्चों को नॉर्मल स्कूल में भेजते हैं तो इससे बच्चों को नुक़सान ही होगा, क्योंकि स्पेशल स्कूल में वह जो सीख पा रहे हैं, जो आत्मविश्वास, अवसर, सुविधाएँ, अपनापन और प्यार उन्हें मिल रहा है, यह सब उन्हें सामान्य स्कूल में नहीं मिलेगा और वह पिछड़ जाएँगे। इस विषय में आपको क्या लगता है?

मुझे लगता है इसका उलटा क्यों न करें! जो सामग्री एक स्पेशल बच्चे के लिए उपयोगी है, वह असल में सभी बच्चों के लिए उपयोगी होती है। एक अच्छे स्पेशल स्कूल में सभी बच्चों को भी प्रवेश दें। ऐसा क्यों नहीं कर सकते? ऐसा क्यों हो कि उसमें सिर्फ़ स्पेशल बच्चे हों?

रोहित : आपका कहना सही है, मगर दुर्भाग्य यह है कि अच्छे स्पेशल स्कूल नहीं हैं। जो विकास, नवाचार, शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे हैं, उनको स्पेशल स्कूल से बिलकुल अलग रखा जाता है। पिछले 60-70 वर्षों में शिक्षा की यात्रा में जो भी विकास की प्रक्रिया हुई है, उसमें स्पेशल स्कूलों में कुछ काम हुआ है। दिल्ली-मुम्बई में कुछ संस्थाएँ अच्छा काम कर रही हैं। समस्या यह है कि अच्छे अंक वाले विद्यार्थी अच्छे-अच्छे पेशों में जाते हैं। कुछ कम अंक वाले बच्चे शिक्षकीय पेशे को चुनते हैं और जो शिक्षक नहीं बन पाते, वे स्पेशल एजुकेशन में जाते हैं।

एक नियमित स्कूल में भी विशेष आवश्यकता वाले बच्चे पढ़ सकते हैं, लेकिन ऐसे स्कूलों को फिर मदद की ज़रूरत होगी। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि एक रिसोर्स सेंटर हो, जहाँ से स्पेशल टीचर, स्पेशल एजुकेशन सहायता, अप्लायंसेज उपलब्ध हों।

रजनी : हमने डिसेबल्ड बच्चों के बारे में बात की। एक औसत बच्चे की या नियमित स्कूल की बात करें तो वहाँ भी समावेशन और बराबरी के मसले हैं। शिक्षक, बच्चे, उनके अभिभावक और समाज, इन सबका एक सकारात्मक नज़रिया कैसे बने?

बृजेश : नियमित स्कूल में भी जो बच्चे कक्षा में पीछे होते हैं, उनके साथ मुश्किल होती है। ऐसे बच्चे कक्षा के साथ मिलकर चल सकें, उसके लिए अलग से प्रयास की ज़रूरत है।



कहते हैं कि हर बच्चा अपनी गति से सीख रहा होता है लेकिन हर बच्चे के पास सीखने के बराबर के मौक़े होने चाहिए। जो बच्चा धीमे चल रहा है, देरी से सीख रहा है, उसको अपने-आप में कोई कमी महसूस नहीं होनी चाहिए, ऐसा माहौल कक्षा में बनाने की ज़रूरत होगी।

दूसरा मुद्दा समाज का नज़रिया है। डिसेबल्ड बच्चों के बीच में भी वर्ग होते हैं। एलीट वर्ग का डिसेबल्ड बच्चा और झुग्गी-झोपड़ी का डिसेबल्ड बच्चा एक ही केन्द्र पर जा रहे होंगे तो वहाँ भी अभिभावकों की तरफ़ से विरोधाभास देखने को मिलता है।

एक एलीट सोसाइटी में हमने घर लिया। झुग्गी-झोपड़ियों के बच्चे कभी-कभी हमारे यहाँ आते थे। वहाँ सोसायटी के लोगों ने इतना विरोध किया कि हमें कॉलोनी के अन्दर नहीं जाने दिया। समाज के अन्दर मौजूद ग़ैर-बराबरी एक बड़ा मसला है।

एक ऐसा स्कूल हो जहाँ हर वर्ग का बच्चा पहुँच सके, तब समावेशी समतामूलक समाज की कल्पना कुछ सम्भव हो पाएगी।

रोहित : इस दिशा में हम बेस्ट प्रैक्टिस को एडवोकेसी के लेवल पर लोगों के बीच ले जा सकें, इसमें बहुत सूक्ष्मता से ध्यान देने की ज़रूरत है। यह अपने-आप नहीं हो जाएगा, इसमें बहुत मेहनत की ज़रूरत पड़ेगी।

अक्षत : समाज की क्या भूमिका होनी चाहिए इन सारी चीज़ों को लेकर? सूचना के अधिकार में एक बहुत अच्छा स्लोगन आया था– "हम जानेंगे, हम जिएँगे"। मतलब अपने गाँव में, क़स्बे में लोगों को और समाज को अगर यह पता है कि स्कूल की क्या-क्या कमियाँ, क्या-क्या चुनौतियाँ हैं और स्कूल में ये चीज़ें होती हैं, तभी वे जवाब-तलब कर सकते हैं और पारदर्शिता व जवाबदेही की बात कर सकते हैं। तभी समतामूलक शिक्षा कि ओर बढ़ा जा सकता है।

दिनेश : यह बात सही है कि अपने देश में, लोकतंत्र में, यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण है कि हम जो बोलते हैं, और जो व्यवहार है, उसमें खाई लगातार बढ़ती जा रही है। फिर भी संस्कृति



निर्माण की जो बात आपने कही थी, उसपर सोचते हुए मुझे लगता है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे लोग अगर संवेदित हैं, प्रेरित हैं तो कुछ सम्भावनाएँ बनती हैं। एक शिक्षक को 40 मिनट मिलते हैं, जहाँ वह अपनी तरह से काम कर सकता है। मुझे लगता है कि हम सिर्फ़ व्यवस्था को दोष नहीं दे सकते। एक स्कूल में गुंजाइश होती है क्योंकि स्कूल आपका होता है। कई जगह रिक्तताएँ हैं, पर हम लोग अपने-अपने स्तर पर समतामूलक और समावेशी शिक्षा व एक संस्कृति निर्माण का काम कर ही सकते हैं। दूसरा, शेयरिंग जितनी ज़्यादा होगी, उतना हम सब प्रेरित होंगे। देश में अलग-अलग जगह पर अलग तरह के काम हो रहे हैं, उससे और लोग भी प्रेरित होते हैं।



यह भी कि नेतृत्व की दृष्टि और उसका व्यवहार लोगों पर बहुत असर डालता है। शिक्षा विभाग के नेतृत्व से हमारी अपेक्षा है कि वो इन सारे मूल्यों, परिप्रेक्ष्यों को अपने व्यवहार में इसी निष्ठा के साथ दिखाएँगे। अकसर अधिकारियों का व्यवहार अपने से नीचे के कर्मचारियों-अधिकारियों और शिक्षकों के प्रति बेहद उलट दिशा का होता है। वो जिस तरीक़े से पूछताछ करते हैं, मॉनिटरिंग करते हैं, उसमें कहीं से भी समावेशी या समतामूलक भावना प्रदर्शित नहीं होती है। यह एक ज़िम्मेदारी है, जिसकी अपेक्षा हमें करनी चाहिए। यहाँ पर कई संगठन एक अलग तरह की पद्धति अपने काम में दिखाते हैं। उनकी अपनी कार्य पद्धति में समावेशी मूल्य और समतामूलक समाज के मूल्य शामिल हैं। जिस तरह मुस्कान चलती है, आरुषि का या और संगठनों का काम चलता है, वो संगठन अपनी कार्य पद्धति से भी एक समतामूलक समाज और समतामूलक शिक्षा की बानगी पेश करते हैं। तो हमें इन मुद्दों को भी उठाना पड़ेगा। बात सिर्फ़ बच्चों की ही नहीं है, बात हमारी अपनी कार्य पद्धति की भी है कि हम अपने में भी उन मूल्यों को जिएँ, और अगर जी रहे हैं तो उसके बारे में औरों से साझा भी करें। आगे प्रसारित होकर बच्चों तक भी वह बात तभी पहुँच पाएगी, जब हमारी कार्य पद्धति में वे चीज़ें आएँगी।

- पेज 107 और 115 पर दिए गए चित्र *राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्*, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किताब *आओ खेल खेलें* से साभार।
- पेज 105, 109, 111, 112 और 114 पर दिए गए चित्र इंटरनेट से साभार।

पाठकों के विचार

गाँव, नदी और कठपुतली का इतिहास, रुबीना ख़ान व महेश झरबड़े, अंक 15



इस लेख को पढ़ते हुए मैं अपनी इतिहास की कक्षा में चली गई, ऐसी कक्षा जो विषय की रोचकता को बोझ में तब्दील कर देती थी। लेख में बातचीत और खोजबीन के ज़रिए इतिहास को खँगालने पर काम किया गया है, यह छात्रों के लिए न सिर्फ़ दिलचस्प रहा बल्कि उन्होंने इसके माध्यम से अपने गाँव और परिवेश की उन कई चीज़ों को भी जाना जिनसे वो अभी तक अनजान थे। लेख इशारा करता है कि समाज और समुदाय की भागीदारी शिक्षा में अहम भूमिका अदा करती है जिसे अकसर ही नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। लेख शिक्षकों को कक्षा में इतिहास जैसे विषयों को उचित व नवीन गतिविधियों के माध्यम से पढ़ाने का सन्देश भी देता है, जिससे छात्रों में विषय के प्रति रुझान पैदा हो और वे स्वयं ही विषय के बारे में जानकारी एकत्रित कर कक्षा में साझा कर सकें।

प्रियंका रस्तोगी, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, चम्पावत, उत्तराखंड

इतिहास महज़ अतीत में हुई घटनाओं को तथ्यों और तारीख़ों के रूप में रटने का नाम नहीं है। यह विषय जीवन जीने और उसके विभिन्न पहलुओं को समझने एवं आगामी समय में निर्णय लेने के लिए एक दृष्टिकोण पैदा करता है। इन्हीं बातों को केन्द्र में रखते हुए लेखकद्वय ने यह लेख लिखा है। लेख शिक्षकों में यह दृष्टिकोण पैदा करता है कि इतिहास को कैसे बच्चों के परिवेश से जोड़कर और रोचकता के साथ पढ़ाया जा सकता है। लेख को स्वरूप देने के लिए मध्य प्रदेश के तीन ज़िलों के एक-एक गाँव के विद्यालय के बच्चों के साथ कार्य किया गया। इस पूरी क़वायद में बच्चे कहते हैं कि हमने कभी सोचा नहीं था कि हमारी नदी, समाज, गाँव और संस्कृति का इतिहास इतना रोचक है। इस प्रकार की गतिविधियाँ स्थानीय इतिहास को जानने का अवसर प्रदान करने के साथ-साथ समुदाय और विद्यालय के बीच एक पुल का कार्य करती हैं, और इतिहास विषय की रटने वाली छवि को तोड़ती हैं।

देवेंद्र कुमार, उकरीद, सोसो, रामगढ़, झारखंड

दहलीज़ से बाहर सामाजिक विज्ञान का संसार, अनिल सिंह, अंक 15

सामाजिक विज्ञान की कार्यशाला और प्रयोगशाला समाज ही है, इसीलिए परिवेश के ज्ञान से कक्षा के ज्ञान को जोड़ने से ही सामाजिक विज्ञान की सार्थकता सिद्ध होती है। लेखक ने इस आलेख में 'गोपाल की दूध डेयरी', 'स्कूल सरकार का गठन', 'एक नहर के बहाने' और 'इतिहास के आईने में' उप-शीर्षकों के माध्यम से सामाजिक विज्ञान अध्ययन के अनुभवों का वर्णन किया है।

गोपाल की दूध डेयरी के माध्यम से निम्न आय वर्ग के बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ घरेलू काम में हाथ बँटाने और उसके अनुभव से स्कूल के बच्चों के परिचित होने में मदद भी मिली। डेयरी का भ्रमण कर तय प्रारूप व प्रश्नावली के माध्यम से डेयरी व्यवसाय की जानकारी हासिल की गई। इस बात का भी पता चला कि परिस्थितियों के चलते गाँव से शहर आकर पुश्तैनी डेयरी व्यवसाय को अपनाने में पशुओं की परवरिश के अलावा पुलिस व नगर निगम के कर्मचारियों द्वारा वसूली के यथार्थ का सामना भी गोपाल के पिता को करना पड़ता है। बच्चों ने दूध उत्पादन, खपत, लागत, बिक्री मूल्य, व्यवसाय की प्रतिद्वन्द्विता, मवेशियों की देखभाल के साथ-साथ दूध के भण्डारण व विपणन के तौर-तरीक़ों की जानकारी भी ली। इस प्रक्रिया में बच्चे प्रश्न निर्माण, साक्षात्कार, बातचीत, आँकड़ों को एकत्र करने, उनका विश्लेषण कर निष्कर्ष निकालने की निगमनात्मक विधि से सामाजिक विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन को साकार कर रहे थे।

दूसरी गतिविधि स्कूल सरकार का गठन के माध्यम से स्कूल सरकार के चुनाव को बच्चों द्वारा ही सम्पादित कराया गया। इस प्रक्रिया में बच्चों ने उम्मीदवारों के नामांकन, मतदाता सूची, मतदान, मतगणना व चुनाव परिणाम की घोषणा के साथ ही निर्वाचन आयोग और मतदान अधिकारी की भूमिका का प्रत्यक्ष ज्ञान अर्जित किया।

लोकतंत्र के इस निचले स्तर के संचालन अनुभव को बच्चों ने स्कूल मॉनिटर व विद्यालय प्रबन्ध समिति के चुनाव के माध्यम से विद्यालय सरकार का गठन कर सरकार के गठन, कार्य और औचित्य को जाना। इससे बच्चे राजनीति विज्ञान के एक आधार 'सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार' के सिद्धान्त व औचित्य को बख़ूबी समझे।

एक नहर भ्रमण के बहाने बच्चों ने कृषि अर्थव्यवस्था के तौर-तरीक़ों, समस्याओं, नहर के स्रोत, निर्माण एजेंसी, रबी व ख़रीफ़ की फ़सल के समय के साथ यह भी जाना कि मौसमी नहरें दिसम्बर से फरवरी तक ही चलती हैं। उन्हें मालूम हुआ कि नहर का स्वामित्व सिंचाई विभाग के पास होता है और सिंचाई का ख़र्च अलग से नहीं लिया जाता। वह किसान से लिए जाने वाले सालाना शुल्क में ही शामिल होता है।

अर्थव्यवस्था, राजनीति और भूगोल के बाद बारी थी इतिहास के आईने से जानकारी लेने की। इसके लिए भोपाल शहर के कमलापति भवन, गौहर महल, ताजुल मसाजिद, सदर मंज़िल, गोल महल, आदि भवनों का भ्रमण किया गया। इस दौरान, गाइड से इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, महत्त्व, निर्माणकर्ता आदि की जानकारी तो मिली ही, साथ ही संग्रहालय की मूर्तियों, सिक्कों, इमारतों, तस्वीरों, पोशाक, हथियार, फ़र्नीचर आदि के माध्यम से तत्कालीन समाज की जानकारी भी हासिल की।

गोविन्द सिंह मिराल, राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय लखनाड़ी, ताकुला ब्लॉक, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

बच्चों ने बनाया अपनी कक्षा के संविधान का संकल्प प्रस्ताव, केवल आनन्द कांडपाल, अंक 15



पाठशाला भीतर और बाहर का हर अंक ख़ास व पठनीय होता है। इस अंक में संविधान की प्रस्तावना, संकल्पना, उद्देशिका को लेखक ने कक्षा में बहुत रुचिकर तरीक़े से प्रस्तुत किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात बच्चों ने यह रखी कि अध्यापक बच्चों का मज़ाक़ न बनाएँ। सभी छात्रों को सीखने और अपनी बात रखने का समान अवसर मिले। यहाँ बच्चों में न सिर्फ़ संविधान की समझ बनी, बल्कि उन्हें अपनी बात रखने का अवसर भी मिला।

इसी अंक में, अमन मदान ने अपने लेख 'चरित्र निर्माण : किशोरों की विरोधों से निपटने की संस्कृति' में एक ऐसे मुद्दे पर बात की है जो हमारे सामाजिक ढाँचे का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। लेखक ने जिन बच्चों से बात की, उनमें क्षेत्रीयता झलक रही है। यह भी स्पष्ट है कि अधिकांश समय हम अपने बड़े होने का हवाला देकर बालकों-किशोरों से डाँटकर या मारकर समर्पण करवाने का प्रयास करते हैं, और सामान्यतः यह स्वीकार्य भी होता है। लेकिन लेखक ने यहाँ बड़े ही व्यवस्थित तरीक़े से 'संवाद' करने की अहमियत को उजागर किया है। शिक्षण के दौरान भी संवाद करना एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण विधि है। लेख में इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि इन्हीं किशोरों को भविष्य में ऐसे वातावरण में सामंजस्य बिठाना होगा जहाँ की संस्कृति और मान्यताएँ विविधता से भरी होंगी और वहाँ विवशता, समर्पण या किसी और की मध्यस्थता से अपने मतभेद सुलझाने की बजाय संवाद का तरीक़ा सबसे ज़्यादा कारगर होगा। एक अध्यापक होने के नाते, हमें अपने छात्रों में दूसरों को सुनने का धैर्य और सही का चुनाव करने की योग्यता विकसित करनी चाहिए। इस लेख को पढ़कर मुझे भी विरोध के अवसर पर अपने व्यवहार की समीक्षा करने का अवसर मिला।

'साक्षात्कार' में दीपक राय एवं पूनम भाटिया की बातचीत बहुत ही सारगर्भित एवं प्रेरक है। पूनमजी की कार्यशैली विचारणीय है। साक्षात्कार के ज़रिए मैं जान पाई कि एक छोटी-सी पहल एक बड़े बदलाव का ज़रिया होती है। बीज से वृक्ष तुरन्त नहीं बन जाता, अंकुरण से लेकर वृक्ष बनने की एक लम्बी प्रक्रिया है। पूनमजी द्वारा कोविड काल के दौरान किए गए प्रयास हों या बच्चों में पुस्तकें पढ़ने की अलख जगाना, ये प्रेरक प्रयास हैं। साक्षात्कार को पढ़कर शिक्षण में नवाचार और सदैव सीखने की तत्परता की प्रेरणा मुझे मिली।

सीमेश जैन, अध्यापिका, सीनियर सेकेंडरी स्कूल, मुहाना, जयपुर, राजस्थान

पढ़ना, अक्षर–मात्रा से आगे..., मीनू पालीवाल, अंक 15



इस आलेख में पढ़ने के कौशल का महत्त्व बड़ी सहजता से ऐसे दर्शाया गया है, मानो हमारे कक्षा-कक्ष की बातों का ही सजीव चित्रण हो रहा हो।

बच्चों में पढ़ने का ज्ञान बढ़ाने के साथ-साथ बच्चों में पढ़े गए विषय की समझ बनाना शिक्षक और अभिभावक का उद्देश्य होता है। पर होता यह है कि शिक्षक अपनी विषयवस्तु तक बच्चों को सीमित कर देते हैं और अभिभावक रटन्त विद्या का सहारा लेते हैं। इसलिए पढ़ने की समझ और उसका अवलोकन कहीं खो जाता है। बच्चों से उन मूल्यों पर, जो उन्होंने पढ़कर प्राप्त किए हैं, बात नहीं हो पाती है। समझ में आया कि बच्चे पढ़ते रहें और समझ के साथ पढ़ते रहें, यही भाषा शिक्षा का उद्देश्य है।

आरती बहुगुणा, राजकीय प्राथमिक विद्यालय मरगाँव, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड

प्राथमिक कक्षाओं में आने वाले बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाना हमेशा से चुनौतीपूर्ण रहा है। मीनू पालीवाल के लेख की बातें प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने का प्रयास कर रहे शिक्षकों को सोचने-समझने और अपने अनुभवों के प्रकाश में आगे बढ़ने को प्रेरित करती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे लोग जानते हैं कि बच्चों के पढ़ना सीखने में अक्षर-मात्राओं का सीखना और पहचानना तो ज़रूरी है ही, साथ में परिवेशीय सन्दर्भ का होना भी ज़रूरी है जिससे बच्चे का जुड़ाव बन सके और वह सरलता से पढ़ने की ओर बढ़ सके। सुनने और बोलने जैसी प्रारम्भिक दक्षताओं का शुरुआती पढ़ने-लिखने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

कई बार देखने में आता है कि बच्चा शब्द में आने वाली ध्वनियों को अलग-अलग पहचान और बोल तो लेता है, किन्तु एक साथ उच्चारण करते हुए पूरा शब्द नहीं बोल पाता। इससे उसे न केवल धाराप्रवाह पढ़ पाने में समस्या आती है, बल्कि खण्ड-खण्ड पढ़ने से वह अर्थ निर्माण भी नहीं कर पाता। अर्थ निर्माण न हो पाने से पढ़ पाने का उद्‌देश्य ही लगभग असफल हो जाता है।

अशोक मिश्र, सदस्य, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, देहरादून, उत्तराखंड

बच्चों का लेखन पोर्टफ़ोलियो : एक विश्लेषण, कमलेश चंद्र जोशी, अंक 15



यह लेख बच्चों के शुरुआती लेखन और कुछ सायास प्रयासों के बाद उनके लेखन में आए फ़र्क़ को बारीक़ी से देखने का नज़रिया देता है। बच्चे के लिखे हुए को कैसे देखा जाए, इसके कुछ संकेतक भी समझ आते हैं। मसलन, बच्चे के लेखन में विषयवस्तु, विचारों की स्पष्टता, मौलिकता, निरन्तरता को देखने की ज़रूरत है, बजाय वर्तनी, व्याकरण आदि को महत्त्वपूर्ण मानने के। लिखने के साथ ज़रूरी है कि बच्चों को पढ़ने के मौक़े मिलें और कक्षा में पढ़े या लिखे हुए पर उनसे बातचीत बच्चों के लिखने को दिशा देती है। यहाँ ये बात महत्त्वपूर्ण है कि भाषा के सभी कौशल एक दूसरे से जुड़े हैं और उनपर समग्रता में काम से वे एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। इसलिए बच्चों को पढ़ने, बातचीत करने और लिखने के लगातार मौक़े देने की योजना के साथ आगे बढ़ने की ज़रूरत है।

मुकेश चंद शर्मा, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, ऊधम सिंह नगर, उत्तराखंड

चरित्र निर्माण : किशोरों की विरोधों से निपटने की संस्कृति, अमन मदान, अंक 15

इस लेख को पढ़कर कई नए विचार, शैक्षिक तरीक़े और संसाधन पता चले। लेख शान्ति की शिक्षा और दूसरों को प्रेम भाव से देखने पर काम करने के लिए 'कॉन्फ़्लिक्ट रेसोल्यूशन एजुकेशन' की ओर ध्यान दिलाता है। लेख में इससे सम्बन्धित ऑनलाइन सामग्री का भी उल्लेख किया गया है। लेखक द्वारा अपने दो साथियों के साथ मिलकर किए गए एक शोध पर आधारित यह लेख किशोरों के साथ संवाद संस्कृति की शुरुआत करने के तरीक़े की एक झलक देता है। परिवार और समाज में बढ़ते जा रहे झगड़ों से निपटने की तैयारी करने में इस तरह के लेख शिक्षकों और शिक्षक प्रशिक्षकों के लिए मददगार हो सकते हैं।

लेख से पता चला कि बच्चों को उनकी समझ साझा करने के लिए प्रेरित करना हो तो उनके सामने किस तरह के काल्पनिक प्रसंग रखे जा सकते हैं और इनके आधार पर कैसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं। लेख में कहा गया है कि विरोधों से निपटने के मुख्य रूप से वे ही तरीक़े सामने आए जो संस्कृति ने उन्हें सिखाए हैं। जैसे– डाँटकर बात करना, विवश करना, झुकना, तीसरे पक्ष से सलाह या हल लेना, आदि। लेख ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि नैतिक सिद्धान्तों पर मनन करने का काम भारतीय संस्कृति में मुख्य रूप से पुरुषों की बैठकों में सामूहिक समझ से होता है और इसमें महिलाओं की समझ को महत्त्व नहीं दिया जाता है। वैश्विक औद्योगिक और तकनीकी समाज में विरोध के मुद्‌दे दिन-ब-दिन जटिल होते जा रहे हैं, यही वजह है कि इन्हें सुलझाने में पारम्परिक तरीक़े कारगर नहीं होंगे। एक पाठक के रूप में मेरी अपेक्षा है कि लेख का अगला हिस्सा भी प्रकाशित किया जाए जिसमें नई चुनौतियों से निपटने के तरीक़ों और महिलाओं के नज़रियों को शामिल करने के तरीक़े सुझाए जाएँ।

हिमांशु खोले, रिसोर्स पर्सन, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, खुरई, सागर, मध्य प्रदेश

यह लेख एक महत्त्वपूर्ण विषय पर समझ बनाने के लिए एक अच्छा दस्तावेज़ है। इस लेख में लेखक संवाद करने की क़ाबिलियत की तरफ़ ले जाने के पहलुओं पर सोचने का मौक़ा भी देते हैं।

यहाँ संवाद को लेकर अमन ने जो बातें रखी हैं, उनका सामना हम सब अपने जीवन में करते ही रहते हैं। कुछ बच्चे यह भी कह रहे थे कि समझा-बुझाकर दूसरे पक्ष को मना लेंगे। पर यहाँ लेखक का यही तर्क है कि रूठकर बात मनानी हो या समझाकर, सवाल ये है कि वहाँ संवाद की गुंजाइश कितनी थी और कितना व किस तरह का संवाद किसी भी मुद्दे के दौरान हुआ। लेखक यह भी सुझाते हैं कि जब वे बच्चे इस छोटे समूह से अधिक जटिल समाज में जाएँगे तो किसी को बुलाकर निर्णय लेने की जगह उन्हें ख़ुद निर्णय लेने की ओर बढ़ना होगा।

एक जगह लेखक यह भी कहते हैं कि संवाद में तब भी दिक़्क़त होती है जब हम सत्ता में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ये हमें स्कूल, कॉलेज या कार्यालयों में भी सहजता से देखने को मिल जाता है।

लेखक बताते हैं कि तनाव, विरोध, संघर्ष और टकराव हर जगह हैं, इसलिए हर इंसान और नागरिक को यह सीखना ज़रूरी है कि उनसे अच्छी तरह कैसे निपटा जाए। अन्त में वे एक ज़रूरी बात कहते हैं, "भारतीय परम्पराओं में शान्ति की शिक्षा और दूसरों को प्रेम भाव से देखने पर बहुत काम है। यूनाइटेड नेशन्स और विभिन्न शैक्षणिक संस्थानों ने भी इसपर सामग्री ऑनलाइन डाल रखी है जिसे 'conflict resolution education' के नाम से ढूँढ़ा जा सकता है। इस सामग्री को भारतीय परिवेश के अनुकूल बनाकर प्रयोग करने की सख़्त ज़रूरत है।" वे टकराव और विरोधों से सही तरीक़े से निपटने के लिए युवाओं को तैयार करने और बदलती परिस्थितियों के अनुकूल तरीक़ों पर समझ बनाने और सिखाने को आज की स्कूली शिक्षा का धर्म बताते हैं।

मोहम्मद ज़फ़र, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, उत्तरकाशी, उत्तराखंड



यह लेख काफ़ी समसामयिक है, क्योंकि आज के समय में युवाओं में विरोध से निपटने में आक्रामकता और दूसरे के विचारों को ख़ारिज करना काफ़ी बढ़ गया है। किसी विरोध को कैसे हल करें, इसपर यह केस स्टडी आधारित है।

केस स्टडी के माध्यम से यह लेख कई तरह से रेखांकित करता है कि इन तमाम परिस्थितियों में शिक्षा क्या कर सकती है जिससे संवाद की संस्कृति निर्मित हो पाए। मसलन,

- अपनी बात को सही तरीक़े से रख पाना;
- दूसरे की बात को ग़ौर से सुनना; और
- एक दूसरे के प्रति सम्मान करना चाहे विरोधी ही क्यों न हों।

लेखक ने इस बात को स्थापित किया है कि विरोध से निपटने के लिए अर्थपूर्ण, तार्किक और शान्तिपूर्ण तरीक़े से संवाद किया जाना चाहिए क्योंकि यही वो ज़रिया है जिससे सार्थक तरीक़े से किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

आलोक सिंह राठोर, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, जयपुर, राजस्थान

इस लेख के माध्यम से लेखक ने एक स्वस्थ संवाद के महत्त्व एवं दिशा पर प्रकाश डाला है। वर्तमान सन्दर्भों में बेहद महत्त्वपूर्ण यह लेख मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र के बीच एक संवेदनशील रिश्ते की समझ पर बात करता है। वास्तविकता है कि समाज, परिवार एवं संस्था में एक से अधिक लोगों के मतों में फ़र्क़ या फिर टकराव होता है। अमन मदान ने एक शोध द्वारा बताया है कि किशोर वर्ग किस प्रकार इन टकराव एवं संघर्षों का निपटान करता है। इसमें किशोरों ने स्वयं को समझाना, पीछे हटना, झुक जाना, दूसरे को विवश करना, हिंसा, तीसरे पक्ष को शामिल करना जैसे समाधानों को अपनाया था जो टकराव एवं संघर्षों का सुखद अन्त नहीं है। वे कहते हैं कि स्कूली शिक्षण का धर्म है कि हम बच्चों एवं युवकों को विवेकशील तरीक़ों से अपनी बात रखने एवं दूसरे का पक्ष सुनने के प्रति संवेदनशील बनाएँ, जिससे एक स्वस्थ संवाद का जन्म हो। इस मूल्य को सामाजिक विज्ञान, साहित्य, कला, खेलकूद व अन्य विषयों के माध्यम से सिखाने की अपार सम्भावनाएँ हैं, जिनको तलाशना एवं बच्चों में तराशना शिक्षक का धर्म है।

सरोजनी रावत, सहायक अध्यापक, राजकीय प्राथमिक विद्यालय खारास्रोत, नरेन्द्रनगर, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड



यह लेख बेहद संवेदनशील विषय पर विमर्श कर लिखा गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहने के लिए नियम-क़ायदे नियत हैं और समयानुसार बदलते भी रहते हैं, क्योंकि निरन्तरता के बहाव में कुछ पुराना तो कुछ नया सतत चलता रहता है। सभी मनुष्य आपसी रिश्तों को सँजोए रखने के लिए संवाद का सहारा लेते हैं। संवाद की परिपाटी तभी से चली आ रही है जब से भाषा का निर्माण हुआ है, परन्तु जब मनुष्य अपने आवेगों पर नियंत्रण नहीं रख पाता तब यह उग्र रूप में सामने आता है। इसका परिणाम क्रोध के साथ-साथ व्यवहार-जनित सीमाओं को भी पार कर जाता है। ऐसे में संवाद की स्थिति ख़त्म होने लगती है। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति तक अपनी बात सम्प्रेषित करके किसी भी समस्या का उपचार करना चाहिए और संयमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। लेखक द्वारा युवकों व किशोरों से इस विषय में की गई बातचीत दर्शाती है कि वे अपने बड़ों की आज्ञा के पालनार्थ अपना पक्ष पूरी ईमानदारी से नहीं रखते हैं और किशोरियाँ तो और चार क़दम आगे जाकर उन निर्णयों को बिना किसी हील-हुज्जत के स्वीकार कर लेती हैं, जो बड़े-बुज़ुर्ग कर लेते हैं। लेखक कहते हैं कि विरोध, टकराव और संघर्ष क्योंकि हर जगह हैं तो फिर संवाद स्थापित करने के मापदण्ड भी निश्चित होने पर ही हम अपनी बात रख पाएँ, यह सम्भव नहीं लगता। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त संवाद हमें एक दूसरे से जोड़े रखते हैं, परन्तु सामंजस्य, अर्थात अनुकूल या प्रतिकूल बात को रखते हुए हम उचित रूप में संवाद किस प्रकार करें, बहुत महत्त्वपूर्ण होता है।

परिवार प्रथम पाठशाला है और यहाँ से ही हम संवाद की प्रक्रिया से गुज़रते हैं। ऐसे में हमारी परम्पराएँ भी हमें अपनी बात रखने और कुछ भी विरोधाभास होने पर बड़ों की कही बातों को ही सर्वोपरि रखती हैं, और यही बात इस लेख में किए गए संवाद से भी चरितार्थ हो रही है। वर्तमान समय में किशोर अधिक मुखर हुए हैं, पर फिर भी बड़ों द्वारा कही गई बात या किसी झगड़े पर दिए फ़ैसले को मानने के लिए हम कभी दबाव में तो कभी स्वतः स्वीकार्यता दे ही देते हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ही कुछ ऐसी है कि यहाँ पर अपने से छोटों से डाँटकर बात करना या अपना हुक्म सुना देना आम बात है। उसमें भी ख़ासकर महिलाओं को तो इस लायक़ भी नहीं समझा जाता कि वे किसी मसले पर अपनी राय रख सकें। हालाँकि, अब वक़्त

और शिक्षा से माहौल में तब्दीली तो आने लगी है पर फिर भी संवाद की संस्कृति अभी कोसों दूर की कौड़ी नज़र आती है।

सुशील कंवर, वरिष्ठ अध्यापक हिन्दी, जीजीएसएसएस तेलीपाड़ा, जयपुर पश्चिम, राजस्थान

अक्षांश और देशान्तर की बातें, मुकेश मालवीय, अंक 15



यह लेख बताता है कि किसी भी अवधारणा को बच्चों के सामने सरल और रोचक रूप में ले जाना शिक्षक के लिए चुनौती होती है। लेखक अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की अवधारणाओं को बच्चों के बीच सरल और रोचक रूप में ले गए हैं। वे बताते हैं कि उन्होंने भी बचपन में इन अवधारणाओं को मात्र रट लिया था। यही वजह थी कि जब वे इसे लेकर बच्चों के बीच काम करने की तैयारी कर रहे थे तो ख़ुद भी कई सवालों से जूझ रहे थे।

लेख पढ़कर मेरा यह विश्वास मज़बूत हुआ कि शिक्षक को किसी भी अवधारणा पर काम करने से पहले स्वयं तैयारी करनी चाहिए। अवधारणा की समझ बनाने में बातचीत को महत्त्व देना चाहिए, बच्चों के सवालों को सम्मान के साथ शामिल करना चाहिए और यह सिलसिला निरन्तर चलते रहना चाहिए।

एक समस्या मुझे यह लगती है कि वर्तमान समय में भी शिक्षा प्रणाली परीक्षा-केन्द्रित ही है। इसमें भले ही बच्चे को अवधारणा की समझ स्पष्ट न हो, लेकिन यदि वह रटा-रटाया उत्तर लिख दे तो यह मान लिया जाता है कि वह अवधारणा समझ गया है। यदि किसी बच्चे को अवधारणा की स्पष्ट समझ है लेकिन भाषा कौशल में कमी की वजह से वह इसे लिखकर अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, तो माना जाता है कि उसकी अवधारणा की समझ नहीं बनी है। इस समस्या से कैसे निपटा जाए, यह मुझे समझ नहीं आता।

रामेश्वर लोधी, प्राथमिक शिक्षक, सीएम राइज़ स्कूल राहतगढ़, सागर, मध्य प्रदेश

कहानी की कथा, सुमन पटेल, अंक 15

इस अंक का हर लेख कुछ-न-कुछ प्रेरणा देता है कि कैसे बच्चों के साथ बेहतर प्रयास किए जाएँ ताकि उनकी समझ विकसित हो। सुमन पटेल के लेख में बच्चों को किताब पढ़ने का चस्का कैसे लगाया जाए और वे जो भी पढ़ें उसपर उनकी अच्छी समझ कैसे बने, यह अच्छे-से समझाया गया है। किताबों पर बच्चों से बातचीत उनमें विचारों को जन्म देती है और चिन्तन के अवसर प्रदान करती है। लेख में बच्चों से कहानियों और चित्रों पर प्रश्न व बातचीत से उनकी समझ को परिपक्व करने का अच्छा प्रयास किया गया है।

इन्दु पंवार, राजकीय प्राथमिक विद्यालय गिरगाँव, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड

बच्चों के साथ कक्षा में अक्षांश–देशान्तर पर कार्य के अनुभव, विजय आनंद नौटियाल, अंक 15

बच्चों की अक्षांश-देशान्तर की समझ को विकसित करने के लिए बच्चों से बातचीत कर उनकी समझ को जाँचते हुए कार्य किया गया है। किसी स्थान की स्थिति को बताने के लिए सन्दर्भ, दिशा, दूरी की समझ बनाने से लेकर पानी की बोतलों की स्थिति को ग्रिड बनाकर दिशाओं की समझ बनाना हो, गेंद के माध्यम से पृथ्वी पर अक्षांश-देशान्तर रेखाओं की समझ बनाने के लिए वृत्त के

अन्दर रेखा खिंचवाकर समझ विकसित करना या फिर गेंद के माध्यम से पृथ्वी पर अक्षांश-देशान्तर रेखाओं की अवधरणा को स्पष्ट करना, लेखक ने इन रेखाओं को समझाने का पूरा प्रयास किया है। इस लेख के माध्यम से शिक्षकों को छात्रों की समझ बनाने में मदद मिलेगी।

अनीता ध्यानी, राजकीय प्राथमिक विद्यालय देवराना, यमकेश्वर, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड

अक्षांश-देशान्तर रेखाओं पर आधारित इस लेख में, लेखक बच्चों के परिवेश और उनके स्तर की समझ को ध्यान में रखकर प्रश्न कर रहे थे जिससे बच्चे स्वयं सरलता से जटिल अवधारणा की समझ की ओर बढ़ रहे थे। लेख में 'दिशाओं में स्थानीयता व ग्लोबलता' का आपसी तालमेल बख़ूबी देखने को मिला। मैंने सीखा कि किसी भी अवधारणा पर काम करने से पहले स्वयं की तैयारी होना बहुत ज़रूरी है। अक्षांश-देशान्तर रेखाओं को समझने में गणित की थोड़ी समझ के साथ शब्दावली (स्थिति निर्धारण में सन्दर्भ, दिशा और दूरी की अहमियत) को भी समझना होता है। अपने प्रश्न को कई बार अलग-अलग ढंग से दोहराना होगा ताकि बच्चे रोचकता के साथ अपनी समझ को कुरेद पाएँ, उत्तर पाने की प्रक्रिया में जूझ पाएँ और आगे बढ़ पाएँ। साथ ही बच्चों को अपनी बात रखने के पर्याप्त मौक़े देने होंगे।

अजय सैनी, रिसोर्स पर्सन, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, टीएलसी खुरई, सागर, मध्य प्रदेश

पुस्तक चर्चा : हमारे समय में श्रम की गरिमा, शाह आलम



इस आलेख में लेखक ने कांचा आइलैया की पुस्तक *हमारे समय में श्रम की गरिमा* की चर्चा की है। लेखक उन व्यवसायों की महत्ता के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं जिन्हें कमतर आँका जाता है। आलेख बताता है कि किसानों का अर्थव्यवस्था में योगदान तो काफ़ी है पर स्थिति दयनीय है और आज भी वे आत्महत्या करने के लिए मजबूर होते हैं। इसके साथ ही, कुम्हार जाति के लोगों द्वारा बनाई गई कलाकृतियों, उनके विज्ञान कौशल और कला को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। बुनकरों ने चरखे और करघे का आविष्कार किया जो गाँधीजी के स्वदेशी आन्दोलन का मुख्य घटक था। कपड़ा बनाने के लिए घूमने वाले चक्के पर आधारित जो तरीक़ा उन्होंने ईजाद किया उसी का उपयोग बाँधों और परमाणु संयंत्रों में टरबाइन चलाने के लिए किया जाता है। धोबी जाति ने शुरुआती दौर में कपड़े धोने के रसायन की खोज की और इस जाति में लैंगिक समानता के उदाहरण आज भी मौजूद हैं। नाई जाति के लोगों का बाल काटने के साथ-साथ शल्य चिकित्सा, युद्ध के घायलों के उपचार, बीमारियों से पीड़ित लोगों की देखभाल और इस जाति की महिलाओं का गाँव में दाइयों की भूमिका में प्रसव का काम करवाने से सम्बन्ध है। जाति और वर्ण व्यवस्था पर कटाक्ष करते हुए लेख इस बात पर भी सवाल उठाता है कि जाति-आधारित पेशे जन्मजात कैसे हो गए। इस आलेख में लैंगिक समाजीकरण का ज़िक्र भी है जिसमें महिलाओं और पुरुषों में काम के समान बँटवारे की अपेक्षा की जाती है। किताब के लेखक कांचा आइलैया ने महत्त्वपूर्ण, रोचक व पठनीय रूप में इतिहास, विज्ञान व सामाजिक विज्ञान के अनेक प्रसंगों को समाहित किया है।

इस किताब के लेखक टिप्पणी करते हैं कि "ईश्वर और धर्म के नाम पर श्रम का तिरस्कार करना वे लोग सीखते हैं जो दूसरों का शोषण करके अपना जीवन चलाते रहना चाहते हैं।"

राम सिंह, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, टीएलसी कर्णप्रयाग, चमोली, उत्तराखंड



'साक्षात्कार' को पढ़ते समय मैंने जाना कि किस तरह से पुस्तकों के साथ अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं और बच्चों में पढ़ने की आदतें डालने के लिए हमें किस तरह से काम करना चाहिए। बच्चों के लिए एक अच्छा वातावरण तैयार करना बहुत ज़रूरी होता है। जब बच्चे किताबों को पढ़ना सीख जाते हैं तो उन्हें लेखन सम्बन्धी समस्याएँ भी कम आती हैं और वे अपनी बातों को भी रख सकते हैं। बच्चों को किताबी पढ़ाई से नए शब्द समझ आने लगते हैं और उनका शब्दकोश भी समृद्ध होने लगता है। पूनम भाटिया की बातचीत से समझ में आया कि हमें ख़ुद ही पहल करनी होगी। इससे ही बच्चे भी जागरूक होते हैं और अपने कार्यों को संजीदगी से लेते हैं। रजिस्टर बनाने की प्रक्रिया व इसमें स्वयं ही कार्य करने देने की स्वतंत्रता बहुत महत्त्वपूर्ण लगी।

गायत्री गुप्ता, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, कैलगिरी कच्ची बस्ती, मालवीय नगर, जयपुर, राजस्थान

पाठशाला भीतर और बाहर के अंक 15 में विविधता लिए कई आलेख हैं। इन्हें पढ़ना, पढ़कर एक समझ विकसित करना, अनुभवों व प्रयोगों को कक्षा-कक्षीय शिक्षण में उपयोगी बनाना, अपने-आप में उल्लेखनीय कार्य है। इस पत्रिका की बहुत-सी बातें अनुकरणीय होती हैं। मैं *पाठशाला* की नियमित पाठक हूँ और इन आलेखों से मुझे शिक्षण हेतु वातावरण निर्मित करने में सहायता मिलती है। इस अंक में अक्षांश व देशान्तर को पढ़ने के बाद यह महसूस हुआ कि किस तरह से हम अक्षांश और देशान्तर वाले लेखों को और अच्छे-से समझा सकते हैं व किन विधियों से उनपर काम कर सकते हैं। बच्चों के साथ शिक्षण कार्य करवाते हुए आने वाली परेशानियों में नियमित रूप से मिलने वाली यह पत्रिका हमें काफ़ी रास्ते सुझाती है। इसमें आए हुए विचार, भाव, अवधारणाएँ, हमें आगे बढ़ने में मदद करते हैं। पत्रिका में दिए गए आलेख व चित्र हमें कंटेंट को समझने में मदद करते हैं। मैं अन्य अध्यापकों से भी इसके आलेखों के विषय में चर्चा करती रहती हूँ। सामाजिक विज्ञान की शिक्षिका होने के नाते यह पत्रिका कक्षा 6 से 8 में पढ़ाने के लिए अत्यन्त उपयोगी रहती है। इसमें दिए गए संवाद एवं साक्षात्कार भी काफ़ी उपयोगी और प्रेरक होते हैं और मैं भी अपने शिक्षण में गुणवत्तापूर्ण सुधार करने का लगातार प्रयास एवं आगे बढ़ने की कोशिश करती हूँ। मुझे *पाठशाला* के अंकों का हमेशा इन्तज़ार रहता है।

प्रमिला भाटी, राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय बम्बाला, सांगानेर, जयपुर, राजस्थान

लेखकों से आग्रह

पाठकों से प्राप्त सुझाव के आधार पर **पाठशाला भीतर और बाहर** में छपने वाले लेखों की प्रकृति, स्वरूप और प्रस्तुति में कुछ परिवर्तन किए गए हैं। प्रयास है कि पत्रिका ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे साथियों के लिए अपने अनुभवों को दर्ज करने, उनको विस्तार और गहराई देने के लिए एक उपयुक्त मंच बने और साथ ही इन अनुभवों को साझा करने का भी। इसी तरह, यह ज़मीनी स्तर पर होने वाले कार्य की दृष्टि से अर्थपूर्ण व कार्य में मददगार भी बन पाएगी। और व्यापक पाठक वर्ग सहित आप व हमारे शिक्षक साथी इसे पढ़ेंगे और इसका अधिकाधिक उपयोग कर पाएँगे।

आपसे आग्रह है कि आप अनुभवों को दर्ज कर पत्रिका में छपने के लिए भेजें। आप स्कूल में, कक्षा में, और अलग–अलग मंचों पर शिक्षकों के साथ किए गए काम के अनुभवों को भेज सकते हैं। आपके साथी शिक्षक भी अपने काम के अनुभवों को भेज सकते हैं। आपके द्वारा भेजे गए लेख बच्चों के सीखने–सिखाने से सम्बन्धित हो सकते हैं, जैसे– विभिन्न विषयों या प्रकरणों को सीखने–सिखाने के अनुभव या फिर शिक्षकों के साथ अन्तर्क्रिया के नए तौर–तरीक़ों पर केन्द्रित या फिर किसी महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय संवाद के बारे में जो औरों के लिए भी उपयोगी हो। इनके और बहुत–से उदाहरण हो सकते हैं। जैसे– बच्चों के साथ काम के सन्दर्भ में गणित, विज्ञान, भाषा, सामाजिक अध्ययन, आदि किसी भी विषय की किसी भी कक्षा के अनुभव। ये अनुभव किसी अवधारणा को बच्चों को सिखाने, उन्हें गतिविधियाँ कराने या उनके साथ खेल खेलने आदि के हो सकते हैं।

आप, स्कूल और शिक्षकों के साथ (इसमें एंगेज्ड शिक्षक भी शामिल हैं) जो काम कर रहे हैं, उससे सम्बन्धित लेख भी साझा कर सकते हैं। इसमें आपने जो किया उसके साथ–साथ आप अपने काम में किस ख़ास तरह से आगे बढ़े और वह आपने क्या सोचकर किया, इस विचार को शामिल कर सकते हैं। इस दौरान आप अपने काम के सकारात्मक नतीजे व उसमें दिखने वाले गैप भी बताएँ, जैसे– बाल सभा या बाल शोध मेलों में कुछ परिवर्तन किया, तो वह क्या सोचकर किया, उसका क्या नतीजा निकला और बेहतर करने के लिए उसमें और क्या–क्या किया जा सकता है, आदि। इसी तरह, कक्षा में बच्चों को चित्रकला करवाने, कहानी सुनाने या किसी नाटक में भाग लिया, तो उसके बारे में क्या अनुभव रहे, यह बता सकते हैं। गणित का एक उदाहरण शिक्षण सामग्री जैसे– गिनमाला का प्रयोग करके गिनती सिखाने का हो सकता है। इसी तरह वालंटरी टीचर फ़ोरम, टीचर लर्निंग सेंटर, समर–विंटर कैम्प के शैक्षिक प्रयासों आदि के बारे में भी मननशील लेख हो सकते हैं। ये लेख पाठक को यह समझने में मदद करें कि उनमें क्या प्रयास था, किस परिस्थिति में उन्हें सोचा गया, कैसे किया गया, क्या हो पाया, क्या कमी रही, क्या सीखा और आगे के लिए आपके समूह और पाठकों के लिए उसके क्या निहितार्थ हैं?

शिक्षकों के साथ प्रशिक्षण के दौरान, वालंटरी टीचर फ़ोरम में कार्य के दौरान, टीचर लर्निंग सेंटर पर हो रहे प्रयासों में, या उनके साथ सहकारी शिक्षण के दौरान हुए अनुभवों को मननशील व समालोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखकर भेजें तो अच्छा रहेगा। इसी तरह, बच्चों अथवा शिक्षकों के साथ कक्षा के बाहर हुए सार्थक अनुभव भी आप मननशील ढंग से लिख सकते हैं।

लेखों के विषय और विषयवस्तु ऐसी हो जिससे फ़ील्ड में कार्य करने वाले साथियों और शिक्षकों को वैचारिक मदद मिलती हो और उनका दक्षता संवर्धन होता हो। लेख ऐसे हों जो स्कूल व कक्षा में पढ़ने–पढ़ाने के तरीक़ों व अन्य गतिविधियों में शिक्षकों व फ़ाउण्डेशन के साथियों द्वारा इस्तेमाल किए जा सकें। साथ ही, ऐसे लेख भी हों जिनसे विविध विषयों एवं उनमें बुनी अवधारणाओं को पढ़ाने

में मदद मिले और उनकी भाषा व विषय सामग्री अधिक–से–अधिक सदस्यों को आसानी से समझ में आने वाली हो।

यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख ज़रूर करें। आप जो भी सन्दर्भ सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

इसके अलावा, आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी पुस्तक, फ़िल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण।

आशा करते हैं कि आपके यह लेखकीय अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उनमें कुछ ऐसा ज़रूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे। उम्मीद है कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह सोलहवाँ अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए ज़रूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें हमेशा की तरह इन्तज़ार रहेगा।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन फॉर डिवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, प्लॉट नं. 163–164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी, E–8 एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स, 26–बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन–1 भोपाल द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : गुरबचन सिंह

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ

